VOL. VII PART-I FEBRUARY 2001 (BI-MONTHLY)

JOTI JOURNAL

न्यायिक अधिकारी प्रशिक्षण संस्थान

उच्च न्यायालय, जबलपुर - 482 007

JUDICIAL OFFICER'S TRAINING INSTITUTE
HIGH COURT OF MADHYA PRADESH
JABALPUR-482 007
☎ 325995

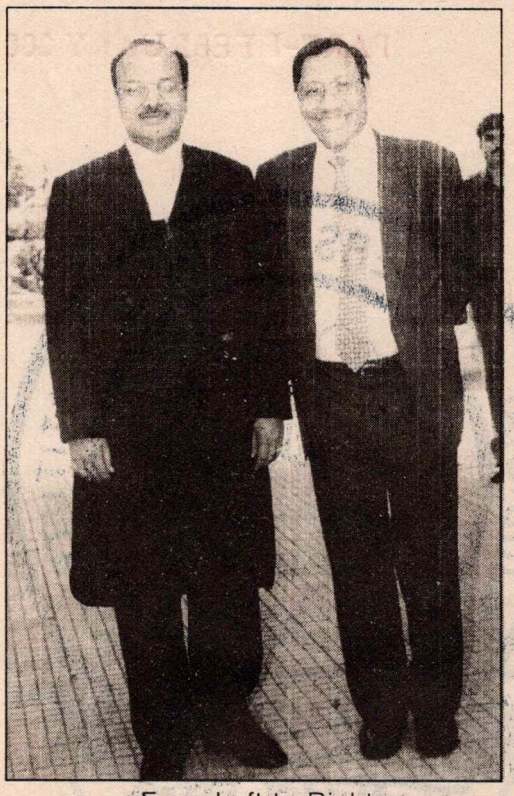

From Left to Right

Hon'ble Shri Justice Bhawani Singh
The Chief Justice of M.P. High Court
with
Hon'ble Shri Jusitce W.A. Shishak
The Chief Justice of Chhattisgarh High Court

PROFILE OF HON'BLE CHIEF JUSTICE SHISHAK

His Lordship was born at village Shangshak, District Ukhrul, Manipur, on 1st January, 1941. His Lordship did his graduation from Gauhati University in 1963 and passed LL.B. examination from Delhi University in the year 1965. His Lordship joined the Bar in March, 1967 at Gauhati. His Lordship Wangazan Awungshi Shishak shifted to Nagaland in 1970 and was appointed as Senior Government Advocate for the State of Nagaland in the year 1975, where he served till 1983. He was the President of Nagaland Bar Associaton. His Lordship was sworn as Judge of Gauhati High Court on 2-1-89 and took the charge of office of the Chief Justice of the Chhattisgarh High Court on 4th December 2000.

संपादकीय

कृपा-अनुग्रह - साध्य एवं साधन

आकस्मिक रूप से एक दिन टी.व्ही. पर 'कहानी घर घर की' देखने की मजबूरी आ गई। देखा। विकल्प नहीं था। सास, सासुर, बड़ी बहू, छोटी–बहू व ससुराल से विवाद कर वापस आई कन्या का एपिसोड (प्रसंग) था। सास–ससुर, के विवाह की वर्षगांठ थी। बड़ी बहू विनम्र सुशील एवं सदाशय वाले व्यक्तित्व की दिखाई गई है। वह घर को एक सूत्र में बांध कर रखना चाहती है। दूसरी पुत्रवधू अनिच्छा से विवाहित हुई है व बदले की भावना से ग्रस्त है व उसका साथ दे रही है घर की पुत्री जो ससुराल छोड़ कर आई है। विवाह वर्ष गांठ के उपलक्ष्य में कार्यक्रम आयोजित हो रहा है व बड़ी बहू (अच्छी बहू) सम्पूर्ण व्यवस्था में जुटी हुई है। परिवार जनों की कृपा अनुग्रह समर्थन उसे प्राप्त है। छोटी बहू एवं कन्या को यह अच्छा नहीं लगता है। अतः बड़ी बहू को नीचा दिखाने हेतु ये तत्व सासजी को कहते हैं कि रतजगा करेंगे एवं उपवास भी करेंगे। सास जी प्रभावित हैं। लेकिन छोटी बहू एवं कन्या को लोभ संवरण नहीं हो रहा है। ये चोरी छिपे खा भी रही हैं व बड़ी बहू रतजगा न कर सके ताकि उसकी निष्ठा घर में शंका का कारण बन सकेगी इस कोशिश में उसे पानी में नींद की दवा घोल कर दी है। बड़ी बहू इन दोनों ही खलनायिकाओं को चोरी से खाते देख लेती है व कहती हैं कि सम्हाल कर खाना कहीं मुंह जल न जावे। ये खलनायिकाएं चोरी से खाना तब खाती है जब गरमागरम खाना तैयार हो रहा होता है। इसके आगे क्या हुआ मुझे पता नहीं क्योंकि मुझे नींद की दवा पत्नी घोलकर दे उसके पहले ही नींद लग गई थी। ये और ऐसे ही सीरियल्स् (धारावाहिक) आप अवश्य देखते होंगे।

इस एपिसोड को देखते हुए सतत् रूप से लग रहा था कि जो व्यक्ति समर्पण भाव से, सद् आशय से एवं निष्ठा से कार्य कर रहा हो व जो सबको एक साथ लेकर चलता उसके पीछे समर्थन का हाथ बहुत कम लोगों का रहता है लेकिन उसे नीचे दिखाने के लिए सब इकट्ठा हो जाते हैं एवं गलतफहमी– भ्रम उत्पन्न करते हैं। इस धारावाहिक का सकारात्मक बिन्दु यह है कि सास–ससुर समझदार हैं व अनुभवी हैं व जानकार हैं। क्षणभर के लिए हमेशा उन्हें बड़ी बहू के प्रति शंका हो जाती है लेकिन वह दूर भी हो जाती है।

आपसी खींचतान, एक दूसरे को नीचे दिखाने की प्रवृत्ति वरिष्ठ के निगाह में चढ़ने की अनुचित लालसा एवं ऐसा करने हेतु चुगलियां करना झूठ सच का सहारा लेना ऐसी परिस्थितियां हैं जो वातावरण को दूषित बनाती हैं, आपसी भाईचारे में कटुता निर्मित करती है व कार्य करने का वातावरण (वर्क कल्चर) को नष्ट करती है। वास्तव में बिना परिश्रम जीवन में समस्त लाभ प्राप्त करने का यह शार्ट कट है ऐसा मानकर व्यवहार किया जाता है लेकिन वस्तु स्थिति यह है कि शार्ट कट कुछ भी नहीं होता है। दीर्घ समय में वह आत्मघाती सिद्ध होता है। (The Shortest line is always the longest)

वह एपिसोड देखकर ऐसा लगा कि हम न्यायिक बंधुओं ने हमारा अपना चरित्र ऐसा हो तो परिवर्तित करना प्रारंभ कर देना चाहिए। एक बोध वाक्य पढ़ा था। आप, कुछ लोगों को सभी समय, कुछ को कुछ समय के लिए मूर्ख बना सकते हो पर सबको सभी समय मूर्ख नहीं बना सकते। एक समय ऐसा आता है जब ऐसा करने वाले स्वयं ही शंका के कठघरे में आ जाते हैं एवं तब सांप छछूंदर की स्थिति सामने आती है। कहने का आशय यह हो सकता है कि हम हमारे काम से मतलब रखें, साफ सुथरा काम हो, किसी का लेना एक न देना दो हो, औपचारिक रूप से संबंधों का सामाजिक स्तर पर निर्वाह हो एवं आप अपने घर में राजा के रूप में खुश मिज़ाज बने रहो। आज के समय में इससे बेहतर स्थिति और क्या हो सकती है। बहुश्रुत होना ज्यादा अच्छा

है, सबकी सुन लो लेकिन निर्णय लेने के पूर्व उस अच्छी बहू को भी समझ लो ताकि आप का निर्णय सही हो। एक सुभाषित देखिये –

न द्विषन्ति न याचन्ते पर निन्दां न कुर्वते।
अनाहूता न चायान्ति तेनाश्मानो ऽपि देवताः।।

अर्थात ऐसा व्यक्ति जो राग द्वेष नहीं करता, दूसरों की निंदा नहीं करता, बिना बुलाए नहीं जाता न बिना पूछे कोई सलाह देता है आदर का पात्र होता है।

अतः हमारे गुणों का उपयोग, हमारी ऊर्जा का उपयोग ध्यान लगाने में लगाएं। ऊर्जा का उपयोग आन्त्यांतिक समाधान प्राप्त करने में लगाएं। संभवतः सबसे सुखी होंगे। एक बात बिल्कुल सही है कि यदि हम मन चाहा गीत गाएं तो वही गीत प्रतिध्वनित होकर हमारे पर बरसेगा व प्रफुल्लित करेगा। अतः प्रफुल्लित रहना है तो अपने कार्यक्षेत्र में समर्पण भाव हो, लगंन हो, उमंग हो, उत्सव हो। बात सही है कि कर्म को उत्सव के रूप में करो। अर्थात किसी उत्सव, तीज त्यौहार पर जैसे सभी जन एक साथ सामूहिक उत्साह से एक मन एक भाव से, एक लक्ष्य से, कार्य करते हैं वैसा ही वातावरण हमारे आस–पास कार्यक्षेत्र में हो तो कितनी प्रसन्नता होगी। हम ऐसा नहीं मानते कि ऐसा वातावरण नहीं है अपितु यदि विपरीत वातावरण निर्मित हो रहा हो तो हम परिवर्तित कर सकते हैं न्यून कर सकते हैं। हमारा सोच हमारा चिंतन सकारात्मक हो, उत्साह वर्धक हो।

आप बंधुओं की सतत् रूप से इच्छा रही है कि उत्साह व उमंग से कार्य हो व 'ज्योति' पत्रिका भी उसमें सक्रिय रूप से भागीदार बनें। आपके कुछ सकारात्मक सुझाव रहे हैं। कुछ आशाएं भी रही हैं। वर्तमान संपादक के जमाने में पत्रिका भी ज्यादा ही मोटी बन गई है। 32 पृष्ठों से 132 पृष्ठों की। उनका कहना है कि इस कारण छह अंक, एवं इंडेक्स को जिल्द करना कठिन हो जाता है व अक्षर कट जाते हैं। दूसरी कठिनाई यह बताई कि अधिकांश न्यायिक अधिकारियों की आंखें पढ़ते पढ़ते थक जाती हैं। कमजोर हो जाती है। अतः पत्रिका के अक्षर कुछ बड़े हों चाहे सामग्री कम समाविष्ट रहे। विधिवत अनुमति पश्चात पत्रिका का कलेवर परिवर्तित हो रहा है। आप अपनी प्रतिक्रिया सूचित न करें, मुझे स्वयं अनुभव होने दें ताकि कमजोरियों को स्वप्रेरणा से दूर किया जा सके। प्रयत्न यह रहेगा कि प्रत्येक अंक के साथ प्रारंभ में ही अनुक्रमणिका का प्रकाशन हो परन्तु इसमें कुछ देरी हो सकती है। सन् 2000 का इंडेक्स तैयार है। अकारांत में सामंजस्य स्थापित कर प्रकाशित हो जाएगा। अत्याधुनिक तकनीकी का कम्प्यूटर सिस्टम क्रय करने का विचार है। नई तकनीकी निकट भविष्य में आने की संभावना है। व तब और अधिक प्रयत्न पत्रिका को बेहतर और उपयोगी बनाने का किया जा सकेगा। संभवतः जो है वह वर्तमान है। अतः जो है उसे ही मीठा कर लो अन्यथा यदि हम अपना समय जुटाने में ही खो देंगे तो वह भी निकल जाएगा। कुछ न्यायिक बंधु छत्तीसगढ़ जा रहे हैं। उनको मनःपूर्वक बिदाई एवं शुभेच्छाएं। सुख समृद्धि हेतु मंगल शुभकामनाएं। उनके लिए एक निवेदन कि;

ये धरती/ ये मौसम/ ये हंसना हंसाना/
मुझे भूल जाना/ इन्हें ना भुलाना/
इन्हें ना भुलाना/ इन्हें ना भुलाना।

पुरूषोत्तम विष्णु नामजोशी

DON'T WASTE YOUR ENERGY ON NEGATIVE GOSSIP.

कर्म के प्रति निष्ठा

व्यवहार न्यायाधीश वर्ग 2 जो सन् 2000 में नियुक्ति पश्चात पदस्थापित हुए थे का प्रवेश प्रशिक्षण (इंडक्शन ट्रेनिंग) समाप्त होने के पश्चात उन्हें अपनी पदस्थापना पर स्वतंत्र रूप से कार्य करने का लगभग 3-4 माह का अनुभव हो जाने के पश्चात उन्हें पुनर्निवेशन प्रशिक्षण (फीड बैक) हेतु बुलाना प्रारंभ किया है। यह प्रशिक्षण चार सत्रों में पूर्ण होगा। प्रथम सत्र दि. 03-01-2001 से 12-01-2001 तक का पूर्ण हुआ। प्रवेश प्रशिक्षण एवं पुनर्निवेशन प्रशिक्षण के बीच जो अवधि प्रशिक्षु–गणों को मिली उस अंतराल में कुछ एक को पृथक–पृथक न्यायालयों का स्वतंत्र प्रभार भी प्राप्त हो गया व उन्होंने स्वतंत्र रूप से कार्य करना प्रारंभ कर दिया। कुछ एक को निकट भविष्य में पृथक से कार्य करने का अवसर मिलेगा ही। प्रवेश प्रशिक्षण के वक्त नव नियुक्त व्यवहार न्यायाधीश जो कि न्यायालयीन प्रक्रिया से अपरिचित थे को तब प्रक्रिया की पृष्ठभूमि से अवगत कराया था। इस बार उक्त न्यायिक बंधुओं से उनके द्वारा लिखे गए आदेश/निर्णय, निर्मित किए गए आरोप एवं वाद प्रश्न तथा तैयार किए गए अभियुक्त के परीक्षण प्रश्न (पंच कार्य), नमूने के रूप में बुलाए गए थे व आदेशिकाओं की नकलें भी प्राप्त हुई थीं। उक्त कार्य का अवलोकन, निरीक्षण व परीक्षण इस संस्था द्वारा एवं माननीय न्यायाधिपति श्रीमान आर.पी. अवस्थी (सेवानिवृत्त) द्वारा किया गया। प्रसन्नता की बात यह थी कि न्यायिक अधिकारीगणों की कार्य पद्धति व विधि प्रक्रिया को समझने की क्षमता अच्छे से विकसित हुइ है। इस सत्र में आए प्रशिक्षुगण की समझने की क्षमता में पर्याप्त रूप से वृद्धि हुई होकर अपने कर्मक्षेत्र में कार्य करने का संकोच व नये पन की अनुभूति में भी कुछ कमी आई व विश्वास जागृत हुआ। दोनों प्रशिक्षण कालों के बीच अवधि में जो कार्य इन अधिकारीगणों ने किया वह पुनर्निदेशन प्रशिक्षण सत्र में अत्यंत लाभदायक रहा। सारवान विधि के आधार पर प्रकरणों का निराकरण तो प्रत्येक न्यायिक अधिकारी को करना ही होता है लेकिन प्रक्रिया सम्बन्धित विधि का अपालन एवं पालन न करने के जो परिणाम सामने आता है उस कारण प्रकरणों के निराकरण में जो देरी होती है उनके कारणों की अनुभूति भी कराई गई।

प्रशिक्षण वर्गों में यह सतत् रूप से प्रयत्न रहा है कि 'पंचकर्म' करते समय किन–किन मूलभूत बातों का ध्यान रखा जाना है। विभिन्न प्रकार के जो आवेदन पत्र आते हैं उन पर किस प्रकार से आदेश पारित करना है ताकि रिवीजनल कोर्ट को आदेश देखकर प्रकरण का संपूर्ण चित्र सामने आना चाहिए जैसे प्रकरण की विषय वस्तु, पक्ष–विपक्ष का संक्षिप्त में प्रकरण, आवेदन प्रत्र के तथ्य व आधार, अनावेदक की उक्त आवेदन पत्र के विषय में प्रतिरक्षा व न्यायालय का आदेश। यही बात चार्ज एवं आरोप निर्मित करने के संबंध में बताई गई है। संभवतः द्वितीय पुनर्निवेशन सत्र अगले सितम्बर–अक्टूबर में पुनः शुरू हो।

इस सत्र को माननीय न्यायाधिषति एवं अध्यक्ष न्यायिक अधिकारी प्रशिक्षण संस्थान श्रीमान सी.के. प्रसाद महोदय ने मंगलाचरण के साथ आर्शीवचन से प्रवर्तित किया। माननीय महोदय ने प्रशिक्षणार्थियों को स्मरण कराया कि प्रारंभिक सत्र में वे अधिवक्ता से व्यवहार न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति पश्चात प्रशिक्षण हेतु आए थे तब न्यायिक कार्य विषयक वातावरण नया नया एंवं अपरिचित व अटपटा लग सकता था लेकिन जब वे दुबारा प्रशिक्षण हेतु आए हैं तब कार्य प्रक्रिया से किसी सीमा तक परिचित हुए हैं व न्यायिक व्यवहार के प्रति भी अभिज्ञ हुए होंगे। माननीय प्रसाद साहेब ने अपने आर्शीवचनों में प्रशिक्षण का उद्देश्य बताते हुए कहा कि इसका मुख्य उद्देश्य उर्जा की पूर्ति करना होता है जिसके द्वारा अंतः चेतना को जगाया जा सके। आप में जो गुण है जो

ज्ञान है उसका अधिकतम, उत्कृष्टतापूर्वक उपयोग न्यायिक आचरण में हो यह लक्ष्य होता है। इससे चेतन मन समझने लगता है व व्यवहार में परिणिति होती जाती है।

माननीय श्रीमान प्रसाद महोदय ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि अधिवक्ता के रूप में पक्षकार की ओर से प्रतिनिधित्व करना एक बात होती है। चूंकि अधिवक्ता अपने पक्षकार का प्रतिनिधित्व करता है अतः उसे ऐसा लगता है कि उसका पक्षकार ही सही है तथा उसके पक्ष में ही आदेश/निर्णय होना चाहिए। लेकिन एक न्यायाधीश के रूप में न्यायाधीश का सोच चिंतन व प्रकरण के निराकरण करने का आधार एकदम भिन्न होता है क्योंकि एक न्यायाधीश को अभिकथन, साक्ष्य का मूल्यांकन करके व विधि प्रावधानों को देखकर निर्णय देना होता है। प्रथम प्रशिक्षण दौर में यह बताया गया था कि स्वयं का व्यवहार न्यायाधीश के रूप में कैसा होना चाहिए। अब उस संबंध में जो अनुभव प्राप्त किया है उसे न्याय निर्णय में हिस्सेदार बनाए व निष्पक्ष रूप से कार्य करें। श्रीमान प्रसाद साहेब ने आगे यह भी कहा कि न्याय क्षेत्र में एक भ्रम सतत् रूप से रहा है कि हर कोई यह मानता है कि वो जो कह रहा है वही सत्य है लेकिन सत्य क्या है यह न्यायिक प्रावधानों, विधि प्रक्रिया अनुसार करना है। इस संबंध में मनमानी नहीं की जा सकती एवं मर्यादाओं में रहना जरूरी है अन्यथा प्रत्येक न्यायाधीश अपनी इच्छा अनुसार कार्य करेगा तो अराजकता निर्मित होगी। (देखें ***2000 (3) एम.पी.एल.जे. 464 आर.सी. बन्सल वि. माननीय उच्च न्यायालय***)।

श्रीमान प्रसाद साहेब ने कहा कि न्यायिक अधिकारी होने के नाते न्यायाधीश का व्यवहार किसी अन्य अधिकारी कर्मचारी से भिन्न हो। जो व्यवहार सामान्य रूप से होता है वह मानसिकता उनकी न हो यथा वर्ष के अंत में जितना अवकाश शेष है वह जबरदस्ती बिना औचित्य व कारण के लेना।

माननीय न्यायाधिपति श्रीमान सी.के. प्रसाद महोदय ने अपने उद्‌बोधन का समापन करते हुए कहा कि न्यायिक अधिकारीगणों ने अपने न्यायादान के कार्य के प्रति सम्पूर्ण रूप से समर्पित होना चाहिए। शक्तिशाली व अकिंचन के बीच में भी उन्हें ही न्याय करना है अतः किसी से प्रभावित हुए बिना कार्य करने हेतु आवाहन किया।

इस सत्र में माननीय न्यायाधिपति श्रीमान आर.पी. अवस्थी (सेवानिवृत्त) श्री के.डी. खान, सचिव म.प्र. उच्च न्यायालय विधिक सेवा समिति श्री सी.व्ही. सिरपुरकर एवं श्री ए.एम. खरे क्रमशः एडि. रजि. (न्या.) एवं (प्र) म.प्र. उच्च न्यायालय ने प्रशिक्षण वर्ग में सम्बोधित किया। विभागाध्यक्ष फोरेन्सिक सायन्स, मेडिकल कॉलेज जबलपुर श्री डी.के. साकल्ले ने भी प्रशिक्षण वर्ग को मेडिको लीगल प्रकरणों के संबंध में संबोधित किया।

SOME NOTABLE EXCERPTS

"Justice means Justice between both the parties the interests of Justice equally demand that the guilty should be punished and that technicalities and irregularities which do not occasion failure of Justice are not allowed to defeat the ends of Justice. Principles of natural Justice are but the means to achieve the ends of Justice. They can not be perverted to achieve the very opposite end. That would be a counter productive exercise."

- B.P. Jivan Reddy, J. in State Bank of Patiala vs. S.K. Sharma, (1996) 3 SCC 364, para 32

न्यायरूपी नवनीत

जागते रहो यह स्तम्भ शुद्ध सात्विक उद्देश्य से जारी है। इसमें उल्लेखित घटनाएं काल्पनिक नही होती विभिन्न स्त्रोतों से ज्ञात जानकारी के आधार से लिखा जाता है। सामान्य रूप से कहां–कहां भूल होने की संभावना होती है व की जाती है इस ओर ध्यान आकृष्ट करने का आशय रहता है जिससे भूलों को न्यून किया जा सके। यह बहुत स्वाभाविक है कि जब हम न्यायिक अधिकारी इस स्तंभ पढ़ते हैं तो यह भी देखते हैं कि हमारे विषय में तो नहीं लिखा गया है। जैसे त्याग तपस्या वाली फिल्मों को देखकर हरेक को लगता है कि अरे ! ये तो मेरे जैसी ही बात है। कुछ तथ्य ऐसे होते हैं कि अधिकांश जन यह सोचते समझते हैं कि ये तो मेरे विषय में ही लिखा गया है जबकि एक से अधिक ऐसे विषय होते हैं कि उससे संबंधित आदेशों निर्णयों में समान रूप से भूलें होती हैं। किसी भी न्यायिक अधिकारी का न तो नाम लिखा जाता है न आलोचना होती है अपितु विवेचन, विधिक स्थिति व अधिक से अधिक यह कह लें कि समीक्षा मात्र होती है वह भी सरसरी रूप से। अतः यह स्तंभ हम जब पढ़ते हैं तो मन में यह भावना होना चाहिए कि हमारे हाथों ऐसी भूलें न हों या हमारी ही भूलों के विषय में लिखा है तो आत्म परीक्षण होना चाहिए कि ऐसी भूल क्यों हुई। इस पत्रिका में किसके कहने से छपा, क्यों छपा, निदेशक को किसने कहा इसका विश्लेषण, विच्छेदन की आवश्यकता ही नहीं है न किसी के साथ बदला लेने की आवश्यकता है। यह तो निरर्थक है। विपरीत इसके यदि हम ऐसा करते हैं तो निश्चित समझिए कि हम विषय को सुधार की भावना से नहीं ले रहे हैं तथा यह मान बैठे हैं कि हमारे से तो भूल होना ही नहीं है। ऐसे विचार उदात्त प्रवृत्ति को प्रतिलक्षित नहीं करते।

दो लेख ज्योति **2000 (1) पृष्ठ 20 एवं 33 (फरवरी)** पर प्रकाशित हुए व साथ ही एक निर्णय जो सर्वोच्च न्यायालय का था वह भी द्वितीय लेख के साथ पृष्ठ 37 पर प्रकाशित हुआ। प्रथम लेख था एक पक्षीय प्रकरणों में विचारणीय बिंदु। दूसरा लेख था "अभिकथनों के आधार से दावे का पारित करना।" इसी संबंध में अभी हाल में एक और दृष्टांत आया है वो इस प्रकार है ***मुनीर वि. रमेश उटवाल 2000 (2) जे.एल.जे. 233*** जो ज्योति में प्रकाशित भी किया है।

अच्छी बात थी कि इन लेखों पर किसी एक जिले के न्यायिक अधिकारी गणों ने आपस में चर्चा की। लेकिन चर्चा का निष्कर्ष चौंकाने वाला था। निष्कर्ष यह था कि ऐसा नहीं करेंगे तो क्या फर्क (अंतर) पड़ेगा। अर्थात हम करें तो हमारी मर्जी न करें तो हम हमारे मन के मुख्तार। हम आपको फर्क पड़ेगा काफी समय पश्चात् लेकिन पक्षकारों को आर्थिक अपव्यय व समय के अपव्यय का तत्काल फर्क पड़ेगा। हमारा ऐसा सोच न्याय व्यवस्था के विपरीत होगा। न्यायिक अधिकारीगण होने के नाते यह अपेक्षा होती है कि किसी विषय पर विश्लेषणात्मक अध्ययन हो। पक्ष–विपक्ष, अनुकूल प्रतिकूल आधार क्या है आदि के संबंध में समालोचन (समीक्षा) हो। केवल प्रशंसा या आलोचना नहीं। ऐसा क्यों होना चाहिए, क्यों नहीं होना चाहिए उसके परिणाम क्या होंगे व आगे चलकर क्या स्थिति उत्पन्न होगी। ये बातें यदि समूह विवेचन (Group discussion) में विचार विमर्श के रूप में स्तरीय पुस्तकों के आधार से व न्याय दृष्टांतों के आधार से हो तो न्यायपालिका को कितना हीतप्रद होगा इसकी सहज कल्पना हो सकती है। ऐसी चर्चाओं में एक दूसरे पर आक्षेप न हों अपमान जनक शब्दों का प्रयोग न हो तो दूध में शक्कर का काम होगा। यदि हम इस

भावना के साथ बैठे कि हमारे विषय में ही क्यों लिखा या हम ही सही थे तो हमने अपनी भावनाओं को विचारों को आंदोलित करने की शक्ति को ही त्याग दिया है या उसका ह्रास हो गया है ऐसा माना जाएगा। विचारों की अभिव्यक्ति के वक्त सह–न्यायाधीश बंधुओं के प्रति शिष्ट व्यवहार हो तथा आप किसी के विचारों से असहमत हों तो ऐसा भी कह सकते हैं कि मैं विनम्रता पूर्वक इन इन कारणों से असहमत हूं व कारण बताना न भूलें। आप गलत हैं, आपको कुछ नहीं आता जैसे तिरस्कार, अवज्ञा, घृणा अवहेलना (disdain disesteem) युक्त शब्दों को प्रयोग भी न हो। आता किसको है यह यक्ष प्रश्न होगा जो न्याय क्षेत्र में अनुत्तरित ही रहेगा।

एक और चिन्तन युक्त लेख ज्योति **2000 (5) अक्टूबर पृष्ठ 576** पर छपा था "Granting of bail by Magistrates, having no jurisdiction to try cases. इस पर भी इसी प्रकार की प्रतिक्रिया ज्ञात हुई। न्यायिक अधिकारी गणों ने कहा हां ठीक है ऐसा हो भी सकता होगा पर हम ऐसा क्यों करें। सवाल ये नहीं है कि हम ऐसा क्यों करें। सवाल ये है कि ऐसा क्यों नहीं करें। ये तो अभियुक्त के अधिकार व हमारे कर्तव्य का प्रश्न है। हम जिस कुर्सी पर बैठे हैं उस कुर्सी की यह अपेक्षा है।

एक अन्य प्रतिक्रिया। **ज्योति 2000 (5) अक्टूबर पृष्ठ 565** पर, एक और लेख छपा था "अपराधिक प्रकरणों में समझौता"। मूल विषय था धारा 320 (5) द.प्र.स. के अनुसार राजीनामा। अनेकानेक दृष्टांतों के साथ विचारों की प्रस्तुति थी। इस लेख पर यह विचार व्यक्त किया गया कि हां सो तो ठीक है पर कोई एक दृष्टांत सर्वोच्च न्यायालय का सुना था। उस अनुसार राजीनामा नहीं होगा ऐसा लिखा है। मैंने पूछा आपने ज्योति में प्रकाशित लेख पढ़ा क्या। उत्तर था नहीं। सर्वोच्च न्यायालय का वो दृष्टांत जिसमें ऐसा कहा गया है पढ़ा है क्या तो उत्तर था नहीं। अब यदि यह बात है तो मैंने पूछा आपसे इस विषय पर क्या चर्चा हो सकती है तो उत्तर था देखेंगे। बीते समय की ओर मुड़कर देखें तो ऐसा लगता है कि हमारी मानसिकता (विचारशैली) में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है। पहली बात यह कि हमारी पठन शक्ति (रीडिंग पॉवर) अत्यंत क्षीण हो गई है। अंदाज व अनुमान शक्ति (इमॅजिनेशन तथा ॲझमशन पॉवर) में बेतहाशा वृद्धि हुई है। हम अधिकांश कार्य अंदाज व अनुमान से करने की कार्यशैली विकसित करते जा रहे हैं। किस कारण से? इसका उत्तर दबे स्वरों में मिलता है यूनिट्स के कारण। हर कोई वार्षिक यूनिटपति बनना चाहता है। अहोरात्र एकत्र किए हुए यूनिट्स की चर्चा होती है। कोई हाथ से लिखा पुर्जा तो कोई टाईप किया लेखा जोखा सतत् तैयार रखता है। अर्थात हमारा एक मात्र लक्ष्य अधिक से अधिक यूनिट्स प्राप्त करना रहा है न कि विधिसम्मत न्याय निष्कर्ष निकालने का। सत्र न्यायालय के एक अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश कह रहे थे कि अपीलों की सुनवाई में बहुत कठिनाईयां आती हैं। प्रक्रिया संबंधी प्रावधान व विधिक प्रावधानों का चिंतन तो निर्णय में होता ही नहीं है। वास्तव में हमारा मानसिक स्तर ऊँचा उठना बहुत जरूरी हो गया है। उदार चरित्र (ब्राड माइंन्डेडनेस) की बहुत बड़ी जरूरत है। सतही चिंतन के बजाय गहरा विश्लेषणात्मक चिंतन व व्यवहारिक विधिक ज्ञान (ॲप्लाइड लीगल नॉलेज) और सब से बढ़चढ़कर आत्म विश्वास की कि हम निर्भय होकर हमारा कार्य करेंगे की आवश्यकता है। ऐसा विचार मन में तो आना ही नहीं चाहिए कि मैंने ऐसा आदेश दिया तो कहीं मेरी नौकरी तो खतरे में नहीं पड़ जाएगी। विचार ये आना चाहिए कि ऐसा आदेश दिया तो कहीं किसी का न्याय्य अधिकार तो खतरे में नहीं पड़ेगा। नम्र निवेदन है कि अपने विचारों को तीव्र गति से आंदोलित करें। समुद्र मंथन की आवश्यकता नहीं है। विचारों को उतना ही मथें जिससे शुद्ध सात्विक न्यायरूपी नवनीत की प्राप्ति हो। व्यक्ति रूपी चिन्तन नहीं समष्टि युक्त विचार हों।

अपराधी द्वारा मजिस्ट्रेट के सन्मुख आत्मसमर्पण करना व उसे प्रतिभूति पर मुक्त किया जाना
(धारा 44 (2) दं.प्र.सं. का विश्लेषण)

पुरूषोत्तम विष्णु नामजोशी

एक विश्वास जो सामान्य रूप से न्यायपालिका क्षेत्र में घर कर रहा है वो यह कि न्यायाधीशगण सामान्यतः प्रतिभूति आदेश देने में असुविधा की अनुभूति करते हैं। अब यह बात इस सीमा तक चिन्तन का विषय है कि नित्यचर्या में यह बात कही जाती है कि हे अभियुक्त ! तुझे प्रतिभूति पर मुक्त करके हम सेवा से मुक्त हो जाने से बेहतर है कि तू जेल में चला जा। हमारी नौकरी बच जाएगी। जब ऐसी चर्चा नित्यचर्या में सुनाई पड़ती हो तब यह लेख निश्चित रूप से ऐसे विचार धारकों को अप्रासंगित होगा। लेकिन विचारों का आदान प्रदान नए क्षितिज सामने लाने के लिए सहायक भी हो सकता हैं। सभी का चिन्तन ऐसा नहीं होता। कुछ न्यायाधीश दुःसाहस न करते हुए अपने क्षेत्राधिकार में रहते अधिकार–विवेक एवं कर्तव्य का सुयोग्य सामंजस्य स्थापित कर न्यायिक आदेश न्याय सम्मत रूप से पारित करते ही हैं। अपने आपको उस योग्य स्थापित भी कर लेते हैं। न्यायाधीश का मूलभूत गुण एवं पद का आधार ही निर्भय होकर कार्य करने का है। इसलिए यह लेख लिखा जा रहा है। यह वैचारिक चिंतन है। मतभिन्नता स्वाभाविक है लेकिन मतभिन्नता के नाम पर अक्खड़पन न हो अपितु प्रति चिंतन लाभदायक होगा।

धारा 44 (2) दंड प्रक्रिया संहिता इस प्रकार है;

44 मजिस्ट्रेट द्वारा गिरफ्तारी (1) .....

x x x x x

(2) कोई कार्यपालक या न्यायिक मजिस्ट्रेट किसी भी समय अपनी स्थानीय अधिकारिता के भीतर किसी ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकता है, या अपनी उपस्थिति में उसकी गिरफ्तारी के लिए वह उस समय उन परिस्थितियों में वारण्ट निर्गमित करने के लिए सक्षम है।

उपरोक्त प्रावधान का विश्लेषण इस प्रकार होगा।

(एक) यह अधिकार कार्यपालक व न्यायिक मजिस्ट्रेट दोनों को प्रदत्त किया गया है।

(दो) यह अधिकार अपनी स्थानीय अधिकारिता के भीतर प्रयोग में लिया जा सकता है।

(तीन) यह अधिकार ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध प्रयोग में लिया जा सकता है जिसकी गिरफ्तारी के लिए वह उस समय और उन परिस्थितियों में वारण्ट जारी करने के लिए सक्षम है या अपनी उपस्थिति में उसकी गिरफ्तारी का निर्देश दे सकता है।

प्रथम दो मुद्दे साधारण हैं तीसरा विश्लेषण योग्य है। तीसरे मुद्दे को सार संक्षेप में कहा जाए तो यह कि धारा 44 (2) के अंतर्गत मजिस्ट्रेट उस व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकेगा, वारण्ट जारी कर सकेगा जिसके संबंध में उसे अधिकारिता है। यथा कोई भी मजिस्ट्रेट चाहे जिसको न गिरफ्तार कर सकता है न चाहे जिसके विरूद्ध वारण्ट जारी करने का आदेश दे सकता है न चाहे जिसका समर्पण स्वीकार कर सकता है। अधिकारिता है तो ही ऐसा कर सकता है।

गिरफ्तारी वारण्ट जारी करने की अधिकारिता हमें दं.प्र.स. की धारा 61 से 90 के प्रावधानों के अंतर्गत पाठ छह में उपलब्ध है जिसके अंतर्गत समन्स, वारण्ट जारी किए जा सकते हैं। ध्यान रहे पाठ 5 के अंतर्गत

धारा 41 में पुलिस के गिरफ्तारी के अधिकार हैं। अतः ऐसा अधिकार न्यायालय भी प्रयोग कर सकता है। देखें ***डायरेक्टर ऑफ इन्फोर्समेंट वि. दीपक महाजन ए. आय.आर. 1994 सु. को. 1775***। उसमें सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि taking of a person into judicial custody is followed after the arrest of the person by the Magistrate on appearance or surrender. In every arrest, there is custody but not vice versa and 'custody' and 'arrest' are not synonymous terms. 'कस्टडी' तथा 'अरेस्ट' में अंतर क्या है इसे जानने हेतु कृपया **1980 क्रि. लॉ. ज. जनरल सेक्शन पृष्ठ 43 का लेख, लेखक श्री भवानी सिंह अधिवक्ता हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय संप्रति माननीय मुख्य न्यायाधिपति म.प्र. उच्च न्यायालय को देखें।**

ए. आय. आर 1951 सु. को पृष्ठ 207 आर.आर. चारी वि. स्टेट का दृष्टांत देखने योग्य है। **दंड प्रक्रिया संहिता लेखक डॉ. दुर्गादास बसु 1979 का प्रकाशन, प्रिंटिस हॉल ऑफ इंडिया प्रकाशन (अंग्रेजी संस्करण)** में पृष्ठ 109 पर उल्लेखित टिप्पणी पढ़ने योग्य है वह इस प्रकार है जो धारा 44 (2) के संदर्भ में है :—

Sub-sec. (2) : Where 'competent to issue a warrant'. 1. The power under this sub-section extends to all cases where the Magistrate is empowered to issue a warrant for arrest to a Police officer, including cases under a special law, such as the Bombay Gambling Act, 173, Suppression of Immoral Traffic in Women and Girls Act, 1956. 174

2. Under the new Code, a Judicial Magistrate U/s.3 (1) (a) (i)) may issue a warrant for causing the arrest of the accused to be brought before him, after taking cognizance of a warrant-case (s. 204 (1) (b) ; or, in certain contingencies mentioned in s. 87, after taking cognizance of a summons-case. Hence, in such cases instead of issuing the warrant, the Magistrate may himself arrest or direct another person to make the arrest in his presence, without issuing a warrant.

3. Even apart from the foregoing cases, the Supreme Court has held that though there is no express provision, a Magistrate may also issue a warrant before taking cognizance, in cases where a Police officer would be competent to arrest without warrant, under S. 41 for, **it would be unreasonable to hold that a Magistrate cannot do what a Police officer can, namely, to arrest a person suspected of having committed an offence specified in S. 41.**

अब प्रश्न यह उपस्थित होगा कि क्या कोई व्यक्ति जिसे गिरफ्तार करने का अधिकार या जिसके विरूद्ध गिरफ्तारी वारण्ट निर्गमित करने का अधिकार किसी मजिस्ट्रेट को है के सामने ऐसा व्यक्ति समर्पण (सरेंडर) कर सकता है क्या तथा ऐसे व्यक्ति को प्रतिभूति पर छोड़े जाने का अधिकार जमानत के प्रावधानों के आधीन प्रतिभूति पर छोड़ने का अधिकार है क्या।

एक बात बहुत स्पष्ट है कि जो व्यक्ति मुक्त है उसे जमानत पर क्या छोड़ेंगे। वास्तव में जमानत पर तो तब छोड़ेंगे जब कोई व्यक्ति गिरफ्तार हुआ है। अतः जमानत केवल उस व्यक्ति की हो सकती है जो गिरफ्तार हुआ है। ध्यान रखना धारा 438 दं.प्र.सं. के अंतर्गत भी गिरफ्तारी पूर्व जमानत में भी जमानत का आदेश तब ही प्रभावशील होगा जब ऐसे व्यक्ति को प्रथमतः गिरफ्तार किया जाएगा व तत्काल उसे आदेश के पालन में जमानत पर छोड़ दिया जाएगा। देखें **1963 जे.एल. जे. 390 (खंडपीठ) चरण 10 एवं 1951 नागपुर 471 *स्टेट वि. हसरा*** एवं **धारा 438 द.प्र.सं। 1980 क्रि. लॉज. 426 *निरंजन सिंह वि. प्रभाकर*** का दृष्टांत सर्वविदित है। उक्त दृष्टांत में विस्तार से बताया है कि अभियुक्त के द्वारा न्यायालय के सामने समर्पण करने के पश्चात वह न्यायालय के कस्टडी में आ जाता है व न्यायालय को यह अधिकार है कि उसे प्रतिभूति पर छोड़

दें। उक्त निर्णय के चरण 5 से 9 को तो अवश्य ही पढ़ लें। चरण 9 में यह बताया है कि "---- He (accused person) can be stated to be in Judicial custody when he surrenders before the court and submits to its directions."

इस संबंध में कुछ दृष्टांत इस प्रकार हैं। एक दृष्टांत ***1960 जे.एल. 1078 सुखलाल वि. स्टेट*** का है जिसमें कहा गया था कि अभियुक्त यदि स्वयमेव आकर कहता है कि उसे जमानत पर छोड़ दो तो मजिस्ट्रेट ने उसे पुलिस के पास भेजना चाहिए। लेकिन यह दृष्टांत ***1963 जे.एल.जे. 390 स्टेट वि. नारायण प्रसाद*** (खंडपीठ) द्वारा ओव्हर रूल कर दिया गया है। 1963 के उक्त दृष्टांत के चरण 8 में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "It would be altogether anomalous for a Court to place a person against whome there is no warrant of arrest and who is not required to Surrender to any custody, for having committed some offence when he comes to the Court for bail proclaiming boldly that he has not committed any offence and there is no ground for his arrest in future. By adopting such a course, the Court would be interfering with the police in matters which are within their province." **ए.आय.आर. 1945 प्रिव्ही काउन्सिल पृष्ठ 18** का अवलंबन किया गया था।

इसी दृष्टांत में चरण 7 में कहा गया था कि 'Bail' means release of a person from legal custody, the grant of bail to a person presupposes that he is in the custody of the police or of the court, or, if not already in such custody is required to such custody. इस दृष्टांत द्वारा ***1963 जे.एल.जे. शार्ट नोट 62 राज्य वि. भगवत साव*** का दृष्टांत ओव्हर रूल कर दिया था। जिसमें गिरफ्तारी पूर्व प्रतिभूति के लिए गिरफ्तारी की आवश्यकता नहीं थी। ऐसा कहा गया एवं ॲपिअर्स (उपस्थित होना) शब्द का निर्वचन था। इसी प्रकार का एक दृष्टांत ***1959 जे.एल.जे. 480 अब्दुल करीम खान वि. राज्य*** भी उक्त निर्णय द्वारा ओव्हर रूल किया गया था।

इस प्रकार धारा 44 (2) के भाष्य के रूप में यह कहा जा सकता है कि वह आरोपी जो स्वयं न्यायालय के सामने उपस्थित होता है (appears) या जिसे आशंका है (Apprehension) या विश्वास है (believes) कि उसने जमानतीय अथवा अजमानतीय अपराध किया है ऐसा आरोप या आक्षेप है तो वह व्यक्ति ऐसे अधिकारिता वाले मजिस्ट्रेट के सामने उपस्थित होकर आत्म समर्पण कर सकता है व तब मजिस्ट्रेट विधिवत रूप से उसे कस्टडी में ले सकता है व गिरफ्तार भी कर सकता है।

लेकिन प्रश्न यह उपस्थित होगा कि गिरफ्तारी पश्चात क्या करे? इस बात का कोई खुलासा धारा 44 (2) दं.प्र.स. में नहीं है। विधि कभी भी अविवेकी, असंतुलित नहीं होती है। जैसा कि उपर बताया गया है ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार कर मजिस्ट्रेट आरक्षी केन्द्र भेजने का काम नहीं करेगा। धारा 44 (2) यह भी नहीं कहती कि उसे निरोध में (रिमांड) भेजा जावे। इस संबंध में भाष्य किया जाना है। इस संबंध में एक दृष्टांत इस प्रकार है।

1977 क्रि. लॉ. जनरल 1783 (इलाहाबाद) रामचंद्र वि. राज्य,

उक्त दृष्टांत में कहा है कि Under S. 44 (2) Magistrate has no power to commit to custody a person arrested by him under the said section. लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि मजिस्ट्रेट की स्थिति सांप छुछुंदर जैसी होगी। वास्तव में धारा 44 के प्रावधान पाठ 5 के अंतर्गत आते हैं। वह पाठ व्यक्तियों की गिरफ्तारी से संबंधित है। इसी पाठ की धारा 57 के अंतर्गत अभियुक्त को विशेष परिस्थिति में मजिस्ट्रेट के सामने प्रस्तुत करना होता है। न्यायालय अभियुक्त को जो रिमांड पर जेल या पुलिस अभिरक्षा में भेजता है वह धारा 167 दं.प्र.स. के अंतर्गत भेजता है। वह धारा पाठ 12 में है। एक अन्य प्रावधान धाना 309 (2) के प्रोव्हिजो (परंतुक) के अंतर्गत है जिसके तहत मजिस्ट्रेट अभियुक्त को समय–समय पर न्यायिक अभिरक्षा में भेज सकता है। यह प्रावधान पाठ 24 के अंतर्गत जांच व सुनवाई के संबंध में सामान्य प्रावधानों के विषय में है। इस विषय

को विस्तार से निम्न दृष्टांतों में बताया है। वे दृष्टांत इस प्रकार हैं।

(1) ***ए.आय.आर. 1975 सु. को 1975 क्रि. लॉ. ज. 1212 नटवर वि. स्टेट,***

(2) ***ए.आय.आर. 1960 म.प्र. (डी.बी.) 135=1960 क्रि. लॉ. ज. पेज 608 श्रीलाल वि. आर.आर. अग्रवाल***

उपरोक्त आधारों को विचार में लाने के पश्चात ये स्पष्ट हो जाएगा कि एक बार मजिस्ट्रेट ने किसी व्यक्ति को धारा 44 (2) दं.प्र.स. के अंतर्गत निरूद्ध किया है उसे धारा 167 के अंतर्गत जेल में या पुलिस रिमांड पर भेजा जा सकता है अथवा धारा 436–37 के अंतर्गत जैसी भी स्थिति हो प्रतिभूति पर मुक्त किया जा सकता है और तब मजिस्ट्रेट का ऐसा कार्य विधिवत अधिकारिता के श्रेणी में होगा। इस संबंध में भी विस्तार से साधार विचार करते हैं।

ए.आय.आर. 1951 नागपुर 471 स्टेट वि. हसन में कहा है कि गिरफ्तारी पूर्व जमानत में भी यह पूर्व कल्पना नहीं है कि ऐसे व्यक्ति को बिना गिरफ्तारी जमानत पर छोड़ दिया जाएगा (प्रारंभ में ही यह बता दिया है) धारा 438 दं.प्र.सं. भी यही बात कहती है। ***1982 क्रि. लॉ. ज. 1334 बी. नारायण वि. स्टेट (कर्नाटक)*** में बताया है कि स्वेच्छिक रूप से भी आरोपी न्यायालय के सम्मुख उपस्थित होकर न्यायालय के अधिकारिता में आत्मसमर्पण कर सकता है व समर्पण स्वीकार होते ही वह व्यक्ति न्यायिक अभिरक्षा में है व अपराध जमानतीय है तो मजिस्ट्रेट का कर्तव्य होगा कि उसे प्रतिभूति पर छोड़े।

1980 क्रि. लॉ ज. पृष्ठ 426 (सुको) निरंजन प्रसाद वि. प्रभाकर में 'कस्टडी' शब्द को परिभाषित करते सर्वोच्च न्यायालय कहता है कि appearance of 'accused' before court amounts to custody अर्थात किसी 'व्यक्ति' को धारा 44 (2) दं.प्र.सं. के अंतर्गत निरोध में लेते ही वह 'अभियुक्त' की श्रेणी में हो जाएगा व न्यायालय की अभिरक्षा में होगा और एक बार अभिरक्षा में होने पर न्यायालय को या तो उसे प्रतिभूति पर छोड़ना है या न्यायिक अथवा पुलिस अभिरक्षा में, जैसी भी स्थिति है भेजना है। अर्थात जहां धारा 44 (2) दं.प्र.सं. के अंतर्गत व्यक्ति को समर्पण पूर्ण हो जाता है हम एक स्टेज को पार कर जाते हैं व तब आप औसत प्रज्ञावान मजिस्ट्रेट के रूप में कल्पना कर सकते हैं कि यदि पुलिस किसी आरोपी को गिरफ्तार कर न्यायालय के सामने प्रस्तुत करती है तो मजिस्ट्रेट को धारा 167, 436–37 या धारा 309 दं.प्र.सं. के अंतर्गत ही कार्यवाही करना अनिवार्य है। ***1982 क्रि. एल.जे. 1816 (गुहाटी) स्टेट वि. मुबारक*** में कहा है कि यदि किसी व्यक्ति ने स्वेच्छया न्यायालय के सामने समर्पण किया है तथा मजिस्ट्रेट ने उसे प्रतिभूति पर मुक्त किया है तो मजिस्ट्रेट ने अपनी अधिकारिता में धारा 437 दं.प्र.स. के अंतर्गत ही कृत्य किया है। ***1981 क्रि. लॉ. ज. 1057 (उड़ीसा) ब्रामर वि. स्टेट*** में कहा है कि restraint but Voluntarily appearing and Surrendering before court is not entitled to bail but a person under restraint by arrest or otherwise can be granted bail under Ss. 436, 437 and 439.

इस प्रकार कोई व्यक्ति यदि न्यायालय के सामने आता है व न्यायालय को समाधान कर देता है कि वह किसी प्रकरण में या अनुसंधान में आरोपी है एवं वह समर्पण करना चाहता है तो न्यायालय उसे निरोध में लेगी व ऐसा करना उसका कर्त्तव्य भी होगा। क्योंकि वह व्यक्ति किसी अपराध से संबंधित अभियुक्त है और जैसे ही ऐसा करेगा न्यायालय का कर्त्तव्य हो जाएगा कि धारा 167, 436–37 अथवा धारा 309 द.प्र.स. के अंतर्गत कार्यवाही करे।

यह तो हो गया सिद्धांत। उसे न्यायालयीन प्रक्रिया में कैसा उतारा जावे यह भी समझ लेना आवश्यक है। यह बात तब ही आसानी से समझ में आएगी जब हम पूर्वाग्रह से मुक्त होकर वैचारिक समीर को प्रवेश देने हेतु, हमने प्रज्ञावान व्यक्ति के रूप में विचारों को सकारात्मक रूप से ग्रहण करने हेतु गवाक्ष को मुक्त रूप से, खुला

रखा है व वातावरण को शुद्ध रखा है। पूर्वाग्रह दो प्रकार के होते है। एक अनुकूल (फेवरेबल) दूसरा प्रतिकूल (अनफेवरेबल)। जैसा सूचना माध्यमों के द्वारा ज्ञात हुआ कि तामिलनाडु एवं कर्नाटक के टाडा न्यायालयों ने सरकारों को लाभ पहुंचाने हेतु अनुकूल आदेश दिया व अभियुक्त गणों को मुक्त करने हेतु निर्देश दिया। यह अनुकूल पूर्वाग्रह कहलाएगा। उसी प्रकार यदि हम अपनी नौकरी (न कि न्यायाधीश का पद) सुरक्षित रहे इसलिए अभियुक्त की जमानत अर्जी निरस्त कर प्रतिकूल आदेश दे देते हैं तो यह प्रतिकूल पूर्वाग्रह कहलाएगा। ***1980 क्रि. लॉ. ज. 426 निरंजन सिंह वि. प्रभाकर*** एवं अन्य श्रेणीबद्ध (सिरिज) न्याय दृष्टांतों से ज्ञात होगा कि न्यायालयों ने प्रतिभूति आवेदन पत्रों को लापरवाही या अक्खड़पन के कारण (कॅव्हेलिअर) अथवा भोलेभालेपन या धोखा देने के आशय से (गॅलॅबॅसी) निराकृत नहीं करना चाहिए। विपरीत निष्पक्ष भावना से सोच विचार करके पक्ष–विपक्ष, अनुकूल प्रतिकूल प्रभाव (प्रॉस एण्ड कॉन्स) को ध्यान में रखकर आदेश पारित करना चाहिए। यही बात म.प्र. उच्च न्यायालय ने भी कई प्रकरणों में कही है। दहेज प्रतिषेत अधिनियम के अंतर्गत, धारा 323–506 (भाग–2) धारा 498ए जैसे अपराधों को अत्यंत गंभीर मानते आरोपी को एक 'कोर्ट' से दूसरे 'कोर्ट' में फुटबॉल बनाने की स्थिति भी कई प्रकरणों में उच्च न्यायालय ने सौम्य शब्दों में प्रतिलक्षित की है। अतः प्रतिभूति विषयक चिंतन धीर–गंभीर प्रवृत्ति की अपेक्षा रखता है तथा नौकरी के बजाय न्याय की चिंता की अपेक्षा करता है। इस विचार को ध्यान में रखकर अगली प्रक्रिया का निदेशन प्रस्तुत कर रहा हूं।

धारा 157 दं.प्र.सं. के अंतर्गत आरक्षी केन्द्र से संबंधित आरक्षी केन्द्र के मजिस्ट्रेट के यहां समय समय पर सूचनाएं भेजी जाती है। धारा 157 दंड प्रक्रिया संहिता का अंश इस प्रकार है।

157. अन्वेषण के लिए प्रक्रिया - (1) यदि पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी इत्तिला प्राप्त होने पर या अन्यथा, यह सन्देह करने का कारण है कि ऐसा अपराध किया गया है जिसका अन्वेषण करने के लिये धारा 154 के अधीन वह सशक्त है तो वह उस अपराध की रिपोर्ट उस मजिस्ट्रेट को तत्काल भेजेगा जो ऐसे अपराध का पुलिस रिपोर्ट पर संज्ञान करने के लिये सशक्त है।

ज्योति खंड दो भाग 1 फरवरी 1996 के पृष्ठ 36 पर जो परिपत्र प्रकाशित हुआ है वह इस प्रकार है।

The High Court of M.P. Jabalpur D.O. No. 3285/III-2-3/74 (F.I.R.), dated 4th December, 1995 is as under :

Sub :- Instructions to Magistrate regarding copy of F.I.R. sent to them by police.

As directed, I have to bring to your notice that Hon'ble the High Court has been pleased to pass the following Order on above mentioned subject :

"When a Police Officer delivers a copy of the F.I.R. in Court the same should be immediately placed before the Magistrate whether he is on the Bench or otherwise and the Magistrate should put his initial and the date on the copy and keep and preserve it and when the challan is filed, the copy of F.I.R. may be placed in the case Records."

I am, therefore, to request you to kindly instruct all the Magistrates under you to follow the instructions strictly.

द.प्र.सं. की धारा 157 के प्रावधान साक्ष्य के दृष्टिकोण से क्या महत्व रखते है यह विचार यहां नहीं किया जाना है। यहां यह देखना है कि ये प्रावधान दं.प्र.सं. की धारा 44 (2) के लिए किस प्रकार सुसंगत हैं। आने वाले कथनों में विभिन्न स्तरों पर विचार किया जा रहा है। धारा 157 के तहत मजिस्ट्रेट को जो सूचना आती है वह यह होती है कि पुलिस ने किस अपराध को पंजीकृत किया है, कौन अपराधी होना कहा गया है, किन प्रावधानों के अंतर्गत अपराध पंजीकृत किया है। इसका उपयोग इस प्रकार होगा।

मजिस्ट्रेट को धारा 438 दं.प्र.स. के अधिकार नहीं है। जिनको अधिकार है वे इस प्रावधान का उपयोग

जमानतीय अपराधों के लिए नहीं कर सकते। लेकिन तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो मजिस्ट्रेट की सीमा तक धारा 438 दं.प्र.स. से ज्यादा विस्तार धारा 44 (2) का है।

मानो किसी अपराध में कोई व्यक्ति पुलिस को आवश्यक है व पुलिस उसे गिरफ्तार करना चाहती है, उसने एक आवेदन पत्र संबंधित आरक्षी केन्द्र के अधिकारिता वाले मजिस्ट्रेट के यहां धारा 44 (2) के अंतर्गत आवेदन पत्र प्रस्तुत किया तो मजिस्ट्रेट क्या करेगा? मजिस्ट्रेट ने ऐसे आवेदन पत्र की नकल लोक अभियोजक (ए.डी.पी.ओ) को देना चाहिए व विविध अपराधिक प्रकरण के रूप में आवेदन पंजीकृत करना चाहिए। ध्यान रहे आवेदन पत्र में आवेदक का पहचान चिन्ह, अधिवक्ता हो तो उसके द्वारा आवेदक वही व्यक्ति है प्रमाणिकरण करवा लेवें। आवेदक के हस्ताक्षर भी अपने सामने ही हों। आवेदन पत्र जब सुनवाई के लिए आवे तो आवेदन पत्र के आधार से कोई संदर्भ उपलब्ध हो रहा हो तो धारा 157 दं.प्र.स. के अन्तर्गत प्राप्त सूचना को देखें व उसकी सहायता से आवेदन पत्र का निराकरण हो सकता है तो ऐसा आवेदन पत्र निराकृत कर दिया जाना चाहिए। यदि संभव नहीं है तो संबंधित पुलिस स्टेशन (आरक्षी केन्द्र) को आवेदन पत्र की नकल एक पत्र लिखकर भेजें व केस डायरी अथवा अन्य विलेख जो इस आवेदन पत्र से संबंधित हो आहूत करें, लोक अभियोजन को भी इस विषय में निर्देश दें। ऐसा करते हुए एक दो दिन की तिथि आरक्षी केन्द्र की दूरी को ध्यान रख कर निर्धारित करें। स्मरण रहे आवेदक को आप जेल नहीं भेज सकते न प्रतिभूति पर छोड़ सकते हैं। क्योंकि उसे न्यायालय ने निरोध में नहीं लिया है। पुलिस को पत्र लिखते समय यह भी लिखें कि आवेदक के आवेदन पत्र को स्वीकार किए जाने की स्थिति में यदि पुलिस, पुलिस रिमांड लेना चाहेगी तो उस तैयारी से उपस्थित हो।

निर्धारित तिथि पर आवेदन पत्र का निराकरण केस डायरी अथवा विविध प्रपत्र जो पुलिस द्वारा प्रस्तुत किया जाए उन्हें देखकर दोनों पक्षों को सुनकर आवेदन पत्र का निराकरण करें। यदि आवेदक का समर्पण विधिक दृष्टि से लिया जा सकता है तो लेना अनिवार्य है। ऐसा नहीं है कि हम उचित नहीं समझते इसलिए आवेदन पत्र निरस्त किया जावे। यह तो अनिवार्यता है। जैसा कि उपर बताया है कि यदि कोई व्यक्ति आरोपित है तो आप धारा 41 सपठित धारा 44 (2) जैसी भी स्थिति हो अवश्य ही कार्यवाही करेंगे। एक बार उसका समर्पण स्वीकार कर लेने के पश्चात आपका कर्तव्य है कि धारा 167–436–37 के अंतर्गत कार्यवाही करें। अपराध जमानतीय है तो जमानत का आदेश देना अनिवार्य है। अजमानतीय है व जमानत ली जा सकती है तो जमानत ले लेना ही न्याय संगत है। यदि पुलिस पुलिस रिमांड चाहती है व देने योग्य है तो ऐसा आदेश दिया जा सकता है। यदि उचित व न्यायिक विवेक के कारण प्रतिभूति लेना उचित नहीं माना जाता है तो न्यायिक निरोध में उसे भेज दें। यह प्रक्रिया निश्चित ही उचित, सुविधायुक्त व न्याय भावना से प्रेरित मानी जाएगी। नमूने के रूप में एक आदेशिका लिखकर बता रहा हूं। आवश्यकता अनुसार विभिन्न परिस्थितियों के आधार से उसमें परिवर्तन परिवर्धन, न्यूनकरण, लघुकरण किया जा सकता है। एक प्रारूप इस प्रकार है।

01–02–2000

म.प्र. शासन द्वारा ए.डी.पी.ओ. श्री ए.बी. सी.डी.

आवेदक सहित श्री बी.सी.डी.ई.

2. आवेदक ने एक आवेदन पत्र धारा 44 (2) दं.प्र.स. का प्रस्तुत किया। आवेदक का पहचान चिन्ह अंकित है उसे सत्यापित किया गया व पाया गया कि आवेदन पत्र में उल्लेखित चिन्ह ही उक्त आवेदक के शरीर पर है। उक्त व्यक्ति को आवेदक अधिवक्ता ने पहचाना इस बाबत टीप अधिवक्ता से इस न्यायालय के सामने लिखवाई गई व आवेदक के हस्ताक्षर भी प्रथमतः लिए गए। आवेदन पत्र की नकल लोक अभियोजक को दी गई। प्रकरण दोपहर पश्चात तर्क के लिए प्रस्तुत हो। इस बीच क्रिमिनल रीडर धारा 157 दं.प्र.सं. की सूचना

विविध फाईल में से (आवेदन पत्र में उल्लेखित घटनाक्रम की सूचना) यदि कोई हो तो निकाल कर रखें।

दोपहर 3 बजे

पक्षकारों की उपस्थिति लिखें। यदि धारा 157 के प्रावधानों की सहायता मिल रही है ता उसे देखें। उसी आधार से आवेदक के विषय में ज्ञात होता है कि उक्त आवेदक एक आरोपी के रूप में अपेक्षित है तो उसका समर्पण स्वीकार कर उसे कटघरे में खड़ा कर दें। सुरक्षा के लिए कोर्ट मोहर्रिर भी वहीं खड़ा कर दें। यदि प्रतिभूति आवेदन पत्र प्रस्तुत होता है या धारा 44 (2) के साथ ही प्रस्तुत हुआ हो तो उस पर विचार करें। अपराध जमानतीय है तो आवेदक जो अब अभियुक्त की स्थिति में आ गया है, जमानत पर छोड़ दे। यदि अजमानतीय अपराध है, तुच्छ कोटि का है जिसमें पुलिस रिमांड संभव या अपेक्षित नहीं है तब भी उसे जमानत पर छोड़ दें व आदेशिका की नकल पुलिस को भेज दें।

यदि तत्काल आवेदन पत्र का निराकरण नहीं हो सकता हो एवं आवेदक का समर्पण स्वीकार नहीं हो सकता हो तो प्रकरण अन्य तारीख हेतु निर्धारित कर दें लेकिन आवेदक को भी जाने दें। निर्धारित तिथि पर उपस्थित होने का निर्देश दें। आवेदन पत्र के निराकरण हेतु उसकी उपस्थिति अनिवार्य है क्योंकि निरोध में तो उसे ही लिया जाना होता है। इस प्रकार की प्रक्रिया को अंगीकार करना चाहिए। (एक और आदेशिका प्रारूप के रूप में दी है।)

आशा है धारा 44 (2) के उक्त प्रावधान के इस चिंतन पश्चात वैचारिक चिंतन को गति मिलेगी व प्रतिध्वनि के रूप में नया चिंतन सृजित होने में सहायता होगी।

यहां यह बताना समीचिन होगा कि धारा 438 दं.प्र.सं. के अंतर्गत गिरफ्तारी पूर्व जमानत के आवेदन पत्र में यह निर्देशित होता है कि यदि पुलिस आवेदक को गिरफ्तार करे तो तत्काल उसे प्रतिभूति पर छोड़ा जावे। ऐसी स्थिति में भी आवेदक अभियुक्त जिसके पक्ष में धारा 438 के अंतर्गत आदेश पारित किया है संबंधित अधिकारिता वाले मजिस्ट्रेट के सामने आवेदन पत्र प्रस्तुत करें तो मजिस्ट्रेट उपर उल्लेखित प्रक्रिया के अनुरूप (ऑनॉलॉजी) के आधार से उसका सरेंडर स्वीकार कर आदेशित प्रतिभूति अनुसार छोड़ सकता है एवं आरक्षी केन्द्र को सूचित करेगा।

ध्यान रहे धारा 44 (2) के प्रावधान मजिस्ट्रेट की सीमा तक है अतः सत्र न्यायालयों ने ऐसे अधिकारों का प्रयोग करने की अपेक्षा नहीं है। विशेष न्यायाधीश ऐसे अधिकारों का प्रयोग कर सकते है ऐसा मेरा मत है क्योंकि वे भी मजिस्ट्रेट की शक्ति रखते हैं। ऐसा प्रयोग ऐसे विशेष न्यायाधीशों ने तब करना चाहिए जब आरोप पत्र सीधे उनके न्यायालयों में ही प्रस्तुत होना हो। क्योंकि जहां धारा 193 दं.प्र.सं. के अंतर्गत उपार्पण पश्चात उस प्रकरण में सुनवाई का अधिकार हो जैसा कि सामान्य सत्र प्रकरणों में होता है तो, मेरे विनम्र मत, में ऐसा प्रयोग संभव न भी हो।

1980 क्रि. लॉ. ज. पृष्ठ 426 ***निरंजन सिंह वि. प्रभाकर*** में समर्पण सत्र न्यायालय ने लिया था लेकिन उस प्रकरण के तथ्य एकदम भिन्न थे। कृपया उसे विस्तार से पढ़ें केवल हेड नोट्स नहीं।

01-02-2000

म.प्र. शासन द्वारा ए.डी.पी.ओ.

श्री ए.बी.सी.डी. आवेदक द्वारा श्री बी.सी.डी.ई.

आवेदक की ओर से एक आवेदन पत्र धारा 44 (2) दं.प्र.स. का इस आशय का प्रस्तुत किया कि ऐसा प्रतीत होता है कि पुलिस कोतवाली ने एक अपराध धारा 498 ए भा.द.वि के अंतर्गत पंजीकृत किया है अथवा

पंजीकृत करने जा रही है तथा पुलिस उसे गिरफ्तार कर सकती है अतः वह न्यायालय के सन्मुख समर्पण करना चाहता है अतः उसका समर्पण स्वीकार किया जाना न्यायोचित होगा। अतः निवेदन है कि पुलिस कोतवाली से केस डायरी एवं जांच के कागजात बुलाए जावे।

2 रीडर से जांच कराने पर ज्ञात होता है कि धारा 157 दं.प्र.स. के अंतर्गत ऐसी कोई रिपोर्ट न्यायालय को प्राप्त होना ज्ञात नहीं होती है अतः यह आवेदन पत्र कल दि. 02-02-2000 को प्रस्तुत हो (आवेदक को जाने दें)

3. प्रकरण विधिवत अपराधिक विविध प्रकरण के रूप में पंजीकृत हो।

4. आवेदन पत्र की नकल पुलिस कोतवाली को भेजी जावे व सूचित हो कि आवेदक के विरूद्ध कोई अपराध पंजीकृत किया हो अथवा जांच चल रही हो तो प्रतिवेदन कल दि. 02-02-2000 को भेजा जावे तथा पुलिस यदि पुलिस रिमांड लेना चाहे तो प्रतिवेदन के साथ तैयार रहें।

प्रकरण वास्ते 02-02-2000

02-02-2000

म.प्र. शासन द्वारा .....

आवेदक द्वारा .....

आरक्षी केन्द्र कोतवाली ने आज आवेदक के संबंध में केस डायरी प्रस्तुत की। ए.डी.पी. ओ. एवं आवेदक अधिवक्ता को सुना गया। केस डायरी का अवलोकन किया। ऐसा प्रतीत होता है कि आवेदक के विरूद्ध धारा 498ए भा.द.वि. के अंतर्गत अपराध पंजीकृत है व उसकी गिरफ्तारी की आवश्यकता अभियोजन को है अतः आवेदक का समर्पण स्वीकार किया जाना न्यायोचित है जो स्वीकार कर आवेदक को निरोध में लिया गया (पहचान कार्यवाही संबंधी बातें पूर्व में उल्लेखित की है उन्हें यहां लिखें)

2. अभियोजन को पूछा गया कि क्या वह पुलिस रिमांड चाहता है तो अभियोजन ने एक आवेदन पत्र आरोपी (आवेदक) के पुलिस रिमांड हेतु प्रस्तुत किया। उभय पक्षों को सुना। केस डायरी इस दृष्टिकोण से देखी। प्रकरण की प्रकृति एवं परिस्थितियों को देखते हुए पुलिस रिमांड की प्रार्थना अस्वीकार की जाती है। प्रकरण में पुलिस रिमांड देने हेतु कोई परिस्थिति ज्ञात नहीं होती है। पुलिस का कहना है कि आरोपी से पूछताछ करना है लेकिन इस कारण मात्र से पुलिस रिमांड देने की आवश्यकता नहीं है। अतः पुलिस का रिमांड आवेदन पत्र निरस्त होता है।

3. आरोपी/आवेदक की ओर से एक आवेदन पत्र धारा 437 द.प्र.स. का प्रस्तुत किया जिस पर उभय पक्षों को सुना व इसी दृष्टिकोण से केस डायरी का अवलोकन किया। प्रकरण की प्रकृति, परिस्थितियां एवं अभियुक्त की सामाजिक स्थिति को देखते आरोपी का प्रतिभूति आवेदन पत्र स्वीकार किया जाना औचित्य पूर्ण है क्योंकि अभियुक्त को प्रतिभूति पर छोड़े जाने पर भी उसकी उपस्थिति सुनिश्चित की जा सकती है, वह स्थायी निवासी है व भागने की न्यूनतम संभावना भी प्रतीत नहीं होती। अतः अभियुक्त यदि रू. पांच सौ की प्रतिभूति एवं उसी सीमा तक का व्यक्तिगत बंध पत्र प्रस्तुत करे तो उसे प्रतिभूति पर मुक्त किया जावे। (अन्य औपचारिक शर्तों का खुलासा हो)

4. अभियोजन यदि अभियुक्त को पूछताछ हेतु बुलाना चाहे तो उसे सूचना पत्र देकर बुलाया जा सकेगा।

(शेष औपचारिक बातें प्रकरण में जैसी स्थिति हो पूर्ण की जा सकती हैं।)

●

क्या तुम्हें अपराध स्वीकार है? जी हां ! मुझे अपराध स्वीकार है।

पुरुषोत्तम विष्णु नामजोशी

चूंकि अभियुक्त ने स्वेच्छया अपराध स्वीकार किया है अतः अभियुक्त को अमुक अमुक सजा दी जाती है। अपवाद नियम को सिद्ध करता है। अतः अपवादों को छोड़कर न्यायिक दंडाधिकारी यही प्रक्रिया लागू करता है। इसके लिए कई कारण हो सकते हैं। लेकिन मुख्य कारण दो हो सकते हैं। प्रथम यह कि सब कुछ चलता है। दूसरा कारण पठन–पाठन का अभाव व इस कारण से यह मानते हुए कि हम जो कर रहे हैं एकदम सही कर रहे हैं। इन भावनाओं के साथ या तो आरोप (चार्ज) या अभियोग का सारांश अपराध की विशिष्टियों के रूप में (पर्टिक्यूलर्स ऑफ ऑफेन्स) के सुनाया जाना होता है। अनुभव के साथ व्यक्ति जानता जाता है, भूलें ज्ञात होती जाती है व उन भूलों की अनुभूति होने के पश्चात हम उस आधार से क्रियान्वयन करते ही हों ऐसी बात नहीं है। यहीं पर हमारी कर्म के प्रति उपेक्षा वृत्ति है व तब हमारा कार्य हम ठीक से नहीं कर रहे होते हैं।

धारा 252 दंड प्रक्रिया संहिता इस प्रकार है-

252 दोषी होने का अभिवाक् पर दोषसिद्धि

यदि अभियुक्त दोषी होने का अभिवचन करता है तो मॅजिस्ट्रेट अभियुक्त का अभिवाक **यथा संभव उन्हीं शब्दों में लेखबद्ध करेगा जिसका अभियुक्त ने प्रयोग किया है** और उसके आधार पर उसे, स्वविवेकानुसार, दोषसिद्ध कर सकेगा।

अब धारा 241 दं.प्र.स. को देखेंगे।

241 दोषी होने के अभिवाक् पर दोषसिद्धि यदि अभियुक्त दोषी होने का अभिवचन करता है तो मॅजिस्ट्रेट उस अभिवाक् को लेखबद्ध करेगा और उसके आधार पर उसे, स्वविवेकानुसार, दोष सिद्ध कर सकेगा। इन्हीं शब्दों का प्रयोग धारा 229 एवं 246 (3) में भी किया गया है।

इस प्रकार दो बातें स्पष्ट हैं। आरोप या अभियोग का सारांश अभियुक्त को सुनाना समझाना है। उसके पश्चात ही अभियुक्त से पूछा जाना है कि क्या तुम्हें अपराध स्वीकार है? अभियुक्त यदि अपराध स्वीकार करता है तो उसका अभिवाक उसी के शब्दों में लिखा जाना है। मूलभूत रूप से हमारा दोष हमारी धारणा के विषय में है। उसके पीछे मूलाधार क्या है यह जानना आवश्यक है। किसी भी प्रावधान को पढ़ते समय उस प्रावधान को टुकड़ों टुकड़ों में पढ़ना चाहिए। जहां, अल्प विराम हो, अर्धविराम हो वहां आगे कुछ कहा जाना है यह भी ध्यान रखना होगा। एक अर्धविराम व दूसरे अर्धविराम के बीच की इबारत को छोड़कर भी पुनः पढ़ने से और भी बात स्पष्ट होती है। पत्रिका में विभिन्न अवसरों पर उदाहरणों सहित बताया भी गया है। जैसे आ. 39 नि. 3. व्य.प्र.स. या धारा 361 दं.प्र.स. आदि को भी पढ़ने की कला है। फिर संबंधित धारा की क्या अपेक्षा है यह धारा के शब्दों पर महत्व देकर सोचना चाहिए। उदाहरणार्थ धारा 252 में "दोषी होने का अभिवचन करता है" तथा "यथा संभव उन्हीं शब्दों में लेखबद्ध करेगा जिसका अभियुक्त ने प्रयोग किया है" में अर्थ छिपा है। सरसरी रूप से पढ़ना व शब्दभेद करके शब्द का भावार्थ समझना महत्वपूर्ण है।

जैसा कि धारा 252 का शीर्षक देखें तो उसमें शब्द प्रयोग है दोषी होने का अभिवाक् पर दोषसिद्धि। इसमें दोषी होने का अभिवाक शब्द को उपरी तौर पर देखें तो आरोपी द्वारा दोष स्वीकार करना है। पर दोष क्या है यह महत्वपूर्ण है। दोष शब्द पर जोर देना होगा। दोष वह है जो उसने अपराध किया। अपराध जो किया है उसके तत्व आरोप (चार्ज) में आना चाहिए अथवा अपराध की विशिष्टियों में आना चाहिए। अर्थात यहां पर भी न्यायाधीश की कला काम आएगी कि आरोप कैसे तैयार करें। इसके लिए हमें आरोपों के संबंध में धारा 211

से 217 तक के प्रावधानों का तथा धारा 218 से 224 के प्रावधानों का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार आरोपी क्या दोष स्वीकार कर रहा है यह भी महत्वपूर्ण है। दोषपूर्ण आरोप के कृत्यों को स्वीकार करना एक बात है लेकिन किसी प्रावधान में उल्लेखित अपराध की स्वीकृति (गिल्ट) दूसरी बात है। **मेजर आनंद के प्रकरण ए. आय.आर. 1960 जेके 1391** में यही बात कही गई है। दोषी होने का अभिवचन मात्र इस स्वीकृति की कोटि में आता है कि अभियुक्त ने वे कार्य किए हैं जिनका किया जाना उसके विरूद्ध अभिकथित है। यह दंड विधि की किसी विशिष्ट धारा के अन्तर्गत दोष स्वीकृति नहीं होती है। इसलिए, यदि अभियोजन पक्ष द्वारा साबित तथ्य अपराध की कोटि में नहीं आते, तो अभियुक्त की दोषिता का अभिवचन उसे अपनी दोषसिद्धि के सही होने को उच्च न्यायालय में चुनौती देने से प्रवारित नहीं कर सकता। यह बात ***स्टेट ऑफ मैसूर वि. बन्नत्रा कुंजना ए.आय.आर. 1960 मैसूर पृष्ठ 177*** में कही गई है। उक्त दृष्टांत के पॅराग्राफ 5 में कहा है कि "If the facts proved by the prosecution do not amount to an offence, then the plea of guilty cannot preclude the accuesed from agitating in High Court the correctness of his conviction" यह दृष्टांत पुराने अधिनियम की धारा 271 (नई धारा 229) पर आधारित है।

इसको उदाहरण के रूप से भी समझाया जाना उचित है। यथा कमली के विरूद्ध आबकारी अधिकारी ने एक प्रकरण 01.01.2000 को पंजीकृत किया लेकिन अभियोग पत्र परिवाद के रूप में छह माह तक प्रस्तुत नहीं किया। फिर 01.10.2000 को आरोप पत्र प्रस्तुत किया। मॅजिस्ट्रेट ने नित्य क्रम अनुसार सार संक्षिप्त कथन आरोपी को सुनाया कि दि. 01.01.2000 को तुम अवैध रूप से बिना आज्ञप्ति के अवैध रूप से दो बोतल देशी शराब अधिपत्य में रखे हुए थे व इस प्रकार धारा 34 म.प्र. आबकारी अधिनियम के अंतर्गत अपराध कारित किया। आरोप विवरण सुनाए समझाए जाने पर आरोपी ने कहा 'अपराध स्वीकार है' या बोलचाल की भाषा में कहा हां जुर्म स्वीकार है व मॅजिस्ट्रेट ने उसे दोषसिद्ध पाते हुए सिद्ध दोष ठहराया व दंडित किया तो मॅजिस्ट्रेट का यह कृत्य विधि विरूद्ध है। अपराध स्वीकार है के स्थान पर यदि आरोपी ने ऐसा भी कहा होता कि जी हां मैंने दो बोतल देशी शराब बिना अनुज्ञप्ति के अवैध रूप से अपने अधिपत्य में रखी तब भी सजा दी गई हो तो यह कृत्य विधि विरूद्ध है।

म.प्र. आबकारी अधिनियम के अंतर्गत धारा 61 में विभिन्न अपराधों के लिए मर्यादा काल दिया है। मानों ऐसे अपराध के लिए मर्यादा काल उक्त प्रावधान के अंतर्गत छह माह के लिए है। आबकारी विभाग की ओर से देरी की क्षमा करने का आवेदन पत्र नहीं है तथा धारा 167 (5) एवं (6) दं.प्र.स. के प्रावधानों का पालन नहीं किया है व ये बातें मॅजिस्ट्रेट के ज्ञान में हों या न हों तथा उपरोक्त अनुसार आरोपी को दोषसिद्ध पाते सिद्ध दोष ठहराकर यदि सजा दी है तो मॅजस्ट्रेट का कृत्य विधि सम्मत नहीं है अतः अभियुक्त को यह अधिकार है कि ऐसे सजा के विरूद्ध अपील या रिवीजन, जैसी भी स्थिति हो, करे। सजा तो निश्चित ही अवैध होगी। अतः आरोपी ने अपराध की स्वीकृति करना मात्र पर्याप्त नहीं है। ऐसी स्वीकृति के आधार पर एवं परिवादी या पुलिस द्वारा प्रस्तुत आरोप पत्र एवं परिवाद या पुलिस द्वारा प्रस्तुत आरोप पत्र एवं परिवाद पत्र के आधार से भी अपराध का गठन होना आवश्यक है तब जाकर आरोप अथवा अपराध की विशिष्टियां निर्मित होंगी। (देखें ***1955 एम.बी.एल.जे. 1955 एच.सी.आर. 1181ए एम.बी. एल.जे. 1955 एच.सी. आर.631 नग्गा एवं यासीन खान*** के प्रकरण)

अपराध की अभिस्वीकृति कैसी हो

जैसा कि उपर कहा है हर एक ने इस संबंध में भूल की होगी। जो अपवाद हैं वे न्यायिक अधिकारी प्रशंसनीय है। मैं भी ऐसी भूलों का सहभागी, निश्चित रूप से, रहा हुआ हूंगा अतः मुझे अपराध स्वीकार है। मैं यह लिख रहा हूं। यदि आरोप के संबंध में ऐसा लिखा जाएगा तो गलत होगा। उसका कारण यह है कि, जैसा

कि धारा 252 दं.प्र.स. में बताया है अपराध का अभिवाक यथा उन्हीं शब्दों में लेखबद्ध होगा जिसका प्रयोग अभियुक्त ने किया है। प्रकारान्तर से यही बात धारा 229, 241, 246 (3) एवं समरी ट्रायल हेतु भी लागू होगी क्योंकि अभियुक्त के अभिवाक पर ही तो आगे होने वाली प्रक्रिया निर्भर होगी। इसीलिए सदा ध्यान रहे कि 'अपराध/जुर्म स्वीकार है/ जी हां' ऐसा लिखना न्याय संगत नहीं कहलाएगा। अपराध के सभी तत्व उसके शब्दों में आना चाहिए जैसा कि उपर बताया कि 'जी हां मैंने दो बोतल देशी शराब बिना अनुज्ञप्ति के अपने अधिपत्य में रखी'। इसके पश्चात ही मॅजिस्ट्रेट ने यथायुक्त रूप से कार्य करना चाहिए। ***राज्य वि. बाबूलाल 1962 जे. एल.जे. नोट नं. 171*** में यही बात कही है।

The accused was asked only तुम्हें जुर्म स्वीकार है? to which he replied जी हां, No particulars were explained to the accused. It is essential before a conviction can be made on the plea of the accused that he should be given opportunity to reply each and every allegation of the prosecution. In the trial sheet in the column of "the offence complained of", all the details are no doubt given, about the offence complained of, the date of the alleged offence and so on. But mention of all these details in this column does not amount to an examination of the accused.

एक अन्य दृष्टान्त देखें। ***स्टेट ऑफ म.प्र. वि. अब्दुल रहीम 1965 एम.पी. एल.जे. नोट 121***

A plea of guilty must be recorded as nearly as possible in the very words of the accused so that an appellate or revisional Court may determine whether they really amount to an admission of guilt and what is more, whether the lower court understood the accused correctly. The plea of the accused is what the accused actually states and not the conclusion of which the Magistrate after hearing his statement. If the trial Court has not recorded the facts in answer to the particulars explained to an accused person as nearly as possible in his own words, the non Compliance in this respect on the part of the Court with the provisions of Sec. 243 (new 252) Cr. P.C. will amount to an illegality which cannot be cured by S. 537 (new 464-465) **Cr.P.C. In C.M.C. No. 19/57 D. 26-8-195** (M.P.) it was said that if the accused admits that he has admitted an offence with which he is charged, his admission shall be recorded as nearly as possible, in the words used by him.

यह बात समान रूप से वारण्ट प्रकरणों के लिए भी लागू होती है। ***म.प्र. राज्य वि. बन्सी सिंह 1959 एम. पी. एल.जे. 856*** में कहा गया है कि–

Under Section 251-A (5) of the Criminal Procedure Code, the Magistrate has a discretion to convict an accused who pleads guilty or to proceed with the trial. But the plea of guilty must be clear and unambiguous. It is an admission of all the facts on which the charge is founded and also an admission of guilt in respect of them. Such a plea must be recorded as nearly as possible in the very words of the accused so that an appellate or a revisional Court may determine whether they really amount to an admission of guilt and, what is more, whether the lower Court understood the accused correctly. The order that a conviction may be sustained on a plea of guilty, it must appear that the accused admitted in his plea, all the elements of the offence. It demands still greater caution when the accused on an earlier occasion denied the accusation against himself. Where the accused does not attribute to himself anything particular which is inculpatory but merely says that he is guilty, the Magistrate is not bound to convict the accused on such a plea."

इस विषय पर अन्य दृष्टांत ***स्टेट वि. ए. एम.दास 1961 इलाहाबाद लॉ रिपोर्ट्स पृष्ठ 108, स्टेट ऑफ एम.पी. विरुद्ध कपूरचंद 1973 सी.आर. एल.जे. (म.प्र.) पूर्णपीठ 417, स्टेट ऑफ एम.पी. वि. मुस्ताक 1965 जे.एल.जे. 265. एवं ए.आय.आर. 1954 कलकत्ता पृष्ठ 82*** देखने योग्य है जिसमें कहा है कि यद्यपि अभियुक्त ने अपराध स्वीकार कर भी लिया है तब भी उसे अधिकार है कि वह बताए कि (show cause) उसे दंडित क्यों नहीं किया जा सकता। न्यायालय द्वारा विधि के संबंध में गलत धारणा या दृष्टिकोण अभियुक्त को निर्दोष मुक्त करने में बाधा उत्पन्न नहीं कर सकता।

इस प्रकार सारांश रूप से यह कहा जा सकता है कि अभियुक्त का अपराध स्वीकृति का अभिवाक सुनने लिखने के पश्चात न्यायालय ने इस बात की संतुष्टि कर लेना चाहिए कि अभियुक्त ने अपराध का सार उचित रूप से समझ लिया था तथा बिना किसी भय, मिथ्याव्यपदेशन या प्रलोभन आदि के अपराधिक कृत्य स्वीकार किया है व ऐसा कृत्य अपराध की श्रेणी में आता है। मिथ्या व्यपदेशन के कारण अपराध की स्वीकृति (**एस.पी. पट्टाभी राम अय्यर का प्रकरण ए.आय. आर. 1941 मद्रास 679**) सशर्त स्वीकृति ***1999 (2) जे.एल.जे. 147 विजय सिंह वि. राज्य*** यही बात बताते हैं कि ऐसी स्वीकृति अपराध की स्वीकृति नहीं हो सकती। अपराध स्वीकृति के साथ साथ आरोपी यदि कहता है कि उसे सुनवाई चाहिए तो आरोपी को अपराध स्वीकृति पश्चात भी दंडित नहीं किया जाएगा व साक्ष्य आहूत करना होगी (***धनराज वि. राज्य स्टेट 1961 एम.पी. एल. जे. 889***) इस प्रकार अपराध की स्वीकृति निशर्त, सुस्पष्ट व स्वेच्छिक होना चाहिए। (***स्टेट वि. श्री राममल 1970 सी.आर. एल.जे. 1303***)

अभियुक्त को अपराध की विशिष्टियां सुनाए समझाए जाने के लिए हमें वास्तव में ऐसा पढ़कर सुनाकर समझाकर बताना चाहिए। केवल ऐसा नहीं पूछना चाहिए कि अपराध स्वीकार है क्या? ***स्टेट ऑफ कर्नाटक वि. मलप्पा 1979 क्रि. लॉ.ज. 1482*** में यही बात बताई है। उसमें कहा है कि– Before accepting the plea of guilty, it is the bounden duty of Magistrate to satisfy himself that the accused has understood the charge or the substance of the accusation against him and he has after understanding the same pleaded guilty and after realising the consequences that follow. In this case (summons case, after the document of accusation was read over to him at the same time and he was merely asked as to why he should not be sentenced. To the various accusations, he answered 'I admit the offence, It was held that accused was not afforded sufficient opportunity to acquaint him self with the prosecution case and to decide either to admit guilt or claims to be tried. It was pointed out that it is exactly in view of such a contigency the words "if he has any cause to show why he should not be convicted" appearing in corresponding provision in Cr.P.C. 1898 have been changed to "whether he pleads guilty or has defence to make" in S.251 of Cr. P.C. 1973. यही बात ***1994 जे.एल.जे. 86 (पृष्ठ 92-93) सुग्रीव सिंह वि. राज्य*** में बताई है। यही बात ***स्टेट विरुद्ध बंशीसिंह ए.आय.आर. 1960 एम.पी. 105*** में भी बताई है।

एक से अधिक आरोपीगणों की स्थिति में अभिवाक :-

अपराध की स्वीकृति प्रत्येक अभियुक्त की अपनी होती है। उसने क्या समझा, कैसे समझा, व क्या कहा यह अपराध स्वीकृति हेतु महत्वपूर्ण होता है। अतः प्रत्येक अभियुक्त का अभिवाक पृथक पृथक रूप से लिखा जाना होता है। इसीलिए वारण्ट केस में प्ली फार्म भी पृथक से भरे जाना चाहिए। अथवा यदि समरी ट्रायल है या कि समन्स ट्रायल जहां अपराध की विशिष्टियां तैयार की हैं वहां भी प्रत्येक अभियुक्त का नाम लिखकर उसका अभिवाक लिखा जाना है। ऐसा न हो कि चार अभियुक्त यदि किसी प्रकरण में हों तो उनका प्ली इकट्ठा

एक ही बार में लिख लिया। यह बात ***स्टेट वि. धन बहादुर 1956 एम.पी. एल.जे. नोट 8*** एवं ***स्टेट वि. भागीरथ शिवनारायण वि. स्टेट 1961 एम.पी.एल. जे. 1187*** में भी बताई है। लेकिन जहां अधिवक्ता के माध्यम से ऐसी स्वीकृति होना है तब यह विचार किया जाना उचित है कि एक अधिवक्ता एक से अधिक अभियुक्तों के लिए विशिष्टियां समझ रहा है व उत्तर दे रहा है तो एक ही उत्तर पर्याप्त हो सकता है। शर्त यह भी है कि अधिवक्ता ने भी जो बात बताई है वह भी सतर्कता व सावधानी से लिखी जाना चाहिए। प्रत्येक अभियुक्त का अभिवाक पृथक–पृथक लिखा जावे इस संबंध में मतभिन्नता भी है। जैसे ***तेजमल वि. एम्परर*** **ए.आय. आर. 1932 सिंध या हंसराज ए.आय. आर. 1956 आय.आर. 1932 सिंध 211, हंसराज ए.आय.आर. 1956 इलाहाबाद 641, इराबत सिंह (1961) 2 क्रि. लॉ. ज. 583** आदि। व्यवहारिक, सार्थक व सही बात तो यह है कि चूंकि प्रावधान यह है कि यथा संभव अभियुक्त का अभिवाक उसी के शब्दों में लिखा जाना है इस लिए प्रत्येक अभियुक्त का अभिवाक उसी के शब्दों में लिखा जावे। ऐसा करना विधि प्रक्रिया का उल्लंघन नहीं है अपितु प्रावधानों का सतर्कता व सावधानी से विधिवत प्रयोग किया जाना ही माना जाएगा। यदि अभियुक्त को अपराध विवरण या अपराध की विशिष्टियां सुनाई समझाई गईं व उसे पूछा कि तुम्हें क्या कहना है तथा वह मौन रहा तो उसका यह अर्थ नहीं है कि उसने अपराध की स्वीकृति की है। अतः अभियोजन साक्ष्य बुलाई जाना चाहिए। ***जमुनाबाई वि. राज्य 1957 एम.पी.एल.जे. नोट 131*** का दृष्टांत स्पष्ट है।

सार संक्षिप्त में यह कहा जा सकता है कि जो प्रावधान है, उसमें प्रयुक्त शब्द, उनका आशय व भावना को समझना होगा व सतर्कता व सावधानी से अधिकार का प्रयोग करना होगा।

●

धारा 260 दं. प्र.सं. के अंतर्गत संक्षिप्त सुनवाई कब और क्यों नहीं

नियम 137 म.प्र. नियम एवं आदेश (अपराधिक) का पुनः स्मरण कराया जा रहा है ताकि उस प्रक्रिया का स्मरण पुनः हो व विस्मृति से मुक्त हो जाएं। चलित न्यायालय के मॅजिस्ट्रेट वृंद ने भी इस बात को विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। उक्त नियम पर पृथक से भाष्य की आवश्यकता नहीं होगी। अपराध की स्वीकृति कैसी लिपिबद्ध करना इस विषय पर लेख प्रकाशित किया गया है। उक्त नियम 137 का पालन भी यथा निर्देश अवश्य करें पक्षकारों के साथ न्याय हो पाएगा।

नियम 137 : निम्न मामलों को संक्षिप्त रूप से विचारित नहीं किया जाना चाहिए।

(अ) ऐसे मामले जिसमें कि प्रथम दृष्टि में दोष सिद्ध होने की दशा में संक्षिप्त विचारण में दिये जा सकने वाले दण्ड से अधिक सख्त दण्ड दिया जाना संभावित है, उदाहरणार्थ, पशुओं की चोरी के मामले तथा पूर्व से दोषसिद्ध अपराधियों (Previously Convicted offenders) के मामले।

(ब) ऐसे मामले जो प्रथम दृष्टि में लम्बे एवं जटिल (Complicated) होना संभावित है।

(स) विवादग्रस्त स्वत्वों (disputed titles) से उत्पन्न होने वाले मामले तथा,

(द) ऐसे मामले जिनमें कि कोई विशिष्ट कारण से यह वांछनीय है कि आगामी प्रसंग के लिए साक्ष्य का पूर्ण अभिलेख किया जाना चाहिए, उदाहरणार्थ ऐसे मामले जिनमें किसी भी श्रेणी के शासकीय कर्मचारी अभियुक्त के रूप में संबंधित हों।

नोट :- ऐसे मामलों में संक्षिप्त प्रक्रिया यद्यपि ठीक रूप से वैधानिक है परन्तु उपयुक्त नहीं है तथा पालन नहीं की जाना चाहिए।

●

SETTING OFF THE PERIOD OF DETENTION AGAINST SENTENCE (S. 428 Cr.P.C.)

P.V. NAMJOSHI,
Director.

Hello Crony (Cronies)!

INTRODUCTION:-

Several questions were posted and are being posed during training programme as to the principle relating to setting off the period of detention undergone by the accused against the sentence of imprisonment. It is difficult to say what the law is in this regard. Few principles can be discussed for debate purpose.

Section 428 of the Cr.P.C. runs as under:-

"428. PERIOD OF DETENTION UNDERGONE BY THE ACCUSED TO BE SET OFF AGAINST THE SENTENCE OF IMPRISONMENT :

Where an accused person has, on conviction, been sentenced to imprisonment for a term, **"not being imprisonment in default of payment of fine"** (amended on 18-12-78), the period of detention, if any, undergone by him during the investigation, inquiry or trial of the same case and before the date of such conviction, shall be set off against the term of imprisonment imposed on him on such conviction, and the liability of such person to undergo imprisonment on such conviction shall be restricted to the remainder, if any, of the term of imprisonment imposed on him."

This section is a new section incorporaated under the amended Cr.P.C. of 1973. Therefore, again in 1975 the Supreme Court in **Bouchure Pierre Andre's case, AIR 1975 SC 164** held that this **Provision Will Also Apply** in cases where there is an order of payment of fine and fine has not been paid and in default, the accused has to undergo a sentence of imprisonment. Thereafter, in 1978 by section 31 of the Criminal Procedure Amendment Act 45 of 1975, Section 428 was further amended and the words "not being imprisonment in default of payment of fine" were inserted to nullify the judgment of the Supreme Court in the said case to that extent Therefore, now this provision is restricted for setting off the period of detention against substantive sentence only and not in the sentence which has to be undergone by the accused in default of payment of fine. Therefore, the judgment of the Supreme Court in Bouchure's case is nullified to that extent only.

OBJECT OF AMENDMENT :-

The Joint Committee of Parliament while recommending the new provision observed as under :

"The Committee has noted the distresssing fact that in many cases accused persons are kept in prison for very long period as under-trial prisoners and in some cases the sentence of imprisonment ultimately awarded is a fraction of the period spent in jail as under-trial prisoner. Indeed, there may even be cases where such a person is acquitted. No doubt, some times courts do take into account the period of detention undergone as under-trial prisoner when passing sentence and occasionally the sentence of imprisonment is restricted to the period already undergone. But this is not always the case so that in many cases, the accused person is made to

suffer jail life for a period out of all proportion to the gravity of the offence or even to the punishment provided in the statute. The Committee has also noted that a large number of persons in the overcrowded jails of today are under-trial prisoners. The new clause seeks to remedy this unsatisfactory state of affairs. The new clause provides for the setting of the period of detention as an under-trial prisoner against the sentence of imprisonment imposed on him. The Committee trusts that the provision contained in the new clause would go a long way to mitigate the evil.

The leading case of **Bouchure, AIR 1975 SC 164** has been classified by Ratanlal in his Cr.P.C. The classification runs as under :

"1. The section applies to a fact situation described by the clause "where an accused person has, on conviction, been sentensed to imprisonment for a term". The clause does not, either expressly or by necessary implication, suggest that the conviction and sentence must be after the coming into force of the new Code of Criminal Procedure.

2. The fact situation necessary for attracting the applicability of the section would be equally satisfied whether an accused person has been convicted and sentenced before or after the coming into force of the new Code.

3. Even though the conviction might have been under the old Code but if the sentence is still running, the provisions of the section will be attracted.

4. If the term has already run out, no question of set-off can arise.

5. Applying S. 484 (2) (b), which creates a legal fiction that sentences passed under the old Code which are in force immediately before the commencement of the new Code shall be deemed to have been passed under the corresponding provision of the new Code, all consequences and incidents are to be worked out on that basis."

BENEFIT UNDER OLD LAW :-

On perusal of **Bouchure's case** and ***Abu Backer Vs. State of Kerala, 1995 Cr.L.J. 1157 (Ker),*** it is clear that the benefit of this provision is also available to an accused person who was convicted under the old Code and he is serving the sentence after coming into force of the New enactment. The principle. laid down under the two citations is as follows:

"The only qualification laid down in the section for entitiling a person to its benefit is that he should stand sentenced to imprisonment on the date on which the section comes into operation; there is no further condition laid down that the conviction must have been under the present Code. Therefore, the benefit of the provisions of this section is available to persons convicted under the Code of Criminal Procedure, 1898. ***Narayanan Nambeesan, (1974) 76 Bom Lr 690, approved in Boucher Pierre Andre, (1975) 1 SCC 192 : AIR 1975 SC 164 ; Hardev Singh AIR 1975 SC 179: 1975 Cr.L.J. 243; Mer Dhana Sida Vs. Gujarat, 1985 JLJ 660 : AIR 1985 SC 386.*** In order to claim benefit of set off under this section, two essential conditions are required to be fulfilled.

(i) the accused-claimant has on conviction been sentenced to imprisonment for a term, and

(ii) the claimant-accused has undergone detention during investigation, enquiry or trial before the date of conviction.

An accused is entitled to claim the statutory benefit subject to above conditions. ***Abu Backer Vs. State of Kerala, 1995 Cr.L.J. 1157 (Ker).***

It is further to say that where the accused. was convicted prior to the commencement of the new Code and appeal was filed after the Code came into force, the accused was entitled to the benefit of set off under Section 428 of the Cr.P.C. Please refer to ***AIR 1985 SC 386 (389) and State of M.P. Vs. Mohan Das, 1992 Cr.L.J. 101 (104)(D.B.) (M.P.).***

THE MEANING OF THE WORD 'TRIAL':-

The expression 'Trial' used in Section 428 includes also the proceedings in appeal. The detention of an accused during the pendency of an appeal against the acquittal can be set off against the sentence of imprisonment. ***State of M.P. Vs. Mohan Das, 1992 Cr.L.J. 101 (M.P.).*** When an accused was convicted prior to the coming into force of the Code, but the appeal was filed after the Code came into force the accused was entitled to the benefit of set off under Section 428. In ***Mer Dhan Sida Vs. State of Gujarat, AIR 1985 SC 386 (389),*** it was held that period after conviction is not to be set off. The period for which the accused had been in jail after conviction before he could be released on bail cannot be given a set off. This is not possible under Section 428 Cr.P.C. of the Code. This section applies only to a stage before conviction. Please refer to **1975 Cr.L.J. 1346 (1347)** of Haryana High Court.

'SAME CASE' MEANING OF.

The basic principle is that the section emphatically states that the period of detention which it allows to be set off against the term of imprisonment imposed on the accused on conviction must be one undergone by him during the investigation, inquiry or trial in connection with the "same case" in which he has been convicted. Sohoni's Code of Criminal Procedure further states that once a criminal prosecution consummates finally into a conviction, then the sentence of imprisonment imposed consequent upon this conviction takes effect from the very moment when the conviction is pronounced by the Court. The period of detention suffered by the said accused as an undertrial prisoner before such conviction ceases from the said moment of conviction in respect of the case in which he is convicted.

Therefore, when once the period of **detention does not relate to the same case** the accused is not entitled to the benefit of set off. ***Thirumathi Kalpagam Vs. Superintendent, Central Prison Madras-3, (1978) 22 Mad LJ (c) 519.***

The detention period before conviction is not sentence but that period is to be set off. Such set off is, however, subject to the provisions under Section 433-A which prescribes minimum punishment of 14 years imprisonment for persons convicted of an offence punishable with death but sentenced to life imprisonment or whose death sentence has been commuted to imprisonment for life. Section 428 provides only for set off but does not equate undertrial detention with "imprisonment on conviction" for the purpose of Ss. 3 (5) and 59 (5) of the Prisons Act, 1894. Therefore, it does not entitle the prisoner to claim remission by counting such period as period of imprisonment. ***Govt. of A.P. VS. Anne Venkateswara Rao, AIR 1977 SC. 1096.*** Where a person is on furlough for a certain period and does not surrender to the jail authorities on the expiry of such period, his sentence starts running on his surrendering or on his arrest and will not come to an end merely because the term of his imprisonment has already expired. ***Gurucharan Kaur Vs. Punjab, 1983 Cr.L.J. 722 (P&H), Bhagirathi Vs. Delhi Admn. AIR 1985 SC 1050.***

PREVENTIVE DETENTION:-

Where a person was in preventive detention after his acquittal by the High Court in a criminal case but whose acquittal was converted into conviction later on by the Supreme Court in an appeal by special leave, it was held that the period of detention could not be set-off under S. 428. ***Champalal Vs. Maharashtra, AIR 1982 SC 791.***

MORE THAN ONE CASE AGAINST THE ACCUSED : EFFECT OF :-

Where an accused was convicted in two diferent cases for murder and also in a Prohibition case, his detention was in connection with the murder case. He could not claim set off against his conviction in the Prohibition case. ***Rafiq Abdul Rehman v. Maharashtra, 1978 Cr.L.J. 214 (Bom) and Jagwantlal Harjivandas Dholakia Vs. Maharashtra, 1979 Cr.L.J. 971 (Bom).***

Where a convict who was on parole was arrested for another offence and put in jail, he was held to be entitled to count that period in jail against the sentence he was already undergoing. ***Onkar Singh Vs. Police Officers, Prashasan, 1979 Cr.L.J. 1098 (All).*** But where an accused is convicted of "**3 offences**" and their sentences are to run concurrently, the set off can be claimed in all the offences. ***Chinnasamy Vs. Tamil Nadu, 1984 Cr.L.J. 447 (Mad).***

Following portion is reproduced with the courtesy of Ratanlal and Dhiraj Lal on the Code of Criminal Procedure on the same matter :

> "When a person is undergoing the sentence of imprisonment imposed by the court on being convicted of an offence in one case during the period of investigation, inquiry or trial of some other case, he then cannot claim that the period occupied by such investigation, inquiry or trial should be set off against the sentence of imprisonment to be imposed in the latter case even though he was under detention during such period. ***Raghbir Singh Vs. State of Haryanan, AIR 1984 SC 1796.***
>
> The accused was already in prison for a period of 200 days during investigation and trial. The term of imprisonment was only six months. Held, the accused had already undergone the term of imprisonement. ***Mamood Khan Vs. State of M.P., 1988 Cr.L.J. 635 (M.P.)***
>
> A preventive detention order was served on petitioners while they were in judicial custody pending trial for punitive offence. Subsequently the petitioners were sentenced to imprisonment of punitive offence. Period during which they were in remand during investigation as under-trial prisoners, was set off against the term of imprisonment, held, the period of detention under Cofeposa could also be set off under section 428 when the order of detention was quashed. ***Juanhaniff D. J. Kisirdeen Vs. State of Kerala, 1988 Noc 75 (Ker).***

SETTING OFF THE IMPRISONMENT :-

Where the accused was released on bail in earlier case and thereafter he was arrested and remanded in detention in another case, it was held that he was not entitled to set off period of detention in other case against the period of detention and sentence in earlier case. ***Ghulam Mustafa Vs. State, 1995 CrLJ 266 (Raj).***

LIFE CONVICTS :-

Life convicts are not entitled to claim set off. ***M. Shankar's case, 1983 Cr.L.J. 588 (AP), Kartar's case, 1982 SC 1430.*** The term imprisonment for term does not

include imprisonment for life. An accused sentenced to imprisonment for life is not entitled to benefit under Section 428. of the Cr.P.C. **Ratan Singh's case AIR 1976 SC 1552.**

The Supreme Court has in life convict ***Laxman Naskar Vs. State of West Bengal AIR 2000 SC 2762*** held that life imprisonment means imprisonment for whole of the remaining period of convict's life. Fact that West Bengal Act equates life imprisonment with life imprisonment for 20 years, does not entitle convict to automatic release on expiry of such term of imprisonment including remission. The law relating to remission under Section 433 was also laid down by the Supreme Court in the same case.

SECTION 428 Cr.P.C. AND ARMY ACT :-

The benefit under section 428 Cr.P.C. was not available prior to introduction of section 169-A in Army Act (in 1992). After amendment, this Section provides for set off of period of pre-trial detention against provision of set off. But this provision is prospective provision. The Supreme Court in ***Bhuvaneshwar Singh Vs. Union of India (1993) 4 SCC 327 and 337*** held that the benefit is not available where appellant was convicted and sentenced by Court Marshall long before 169-A of Army Act there being no investigation and trial under Criminal Procedure Code, Section 428 Cr.P.C. not attracted.

NO SET OFF AGAINST IMPRISONMENT IN DEFAULT OF PAYMENT OF FINE :-

Prior to the amendment in Cr.P.C. by Amendment Act of 1978 (18-12-1978), according to the Supreme Court verdict in **Bouchure's case, AIR 1975 SC 164,** no differentiation was being made between a substantive sentence of imprisonment and sentence of imprisonment in default of payment of fine. In both the cases the section was made applicable. But in the Amendment Act of 1978 by inserting the words "not being imprisonment in default of payment of fine", the imprisonment in default of payment of fine", cannot be set off in case of sentence imposed. When imprisonment is imposed in default of payment of fine, it cannot be subjected to a set off by the period of detention undergone by the convict during investigation, enquiry or trial in the case. On the failure of the convict to deposit the fine imposed, he is liable to undergo imprisonment imposed upon him in default of such payment. ***Bagdaram Vs. State of Rajasthan, 1989 CrLJ 414 (Raj)".***

PROCEDURE TO AVAIL THE BENEFIT OF THIS SECTION :-

The procedure to invoke section 428 could be by way of filing Miscellaneous application by the accused to the Court at the time while the sentence runs for passing an appropriate order for reducing the term of imprisonment. It is the mandate of the section. This has been laid down by the Supreme Court in ***Suraj Bhan Vs. Om Prakash, AIR 1976 SC 648 (650) In Biru Vs. State of Himachal Pradesh, (1983) 1 Cr. L.J. 370,*** it was held that an endorsement should always be made on the warrant of commitment of the accused when he is sent to jail specifying the period of pre-conviction period, if any, which is to be set off against the term of imprisonment imposed on him.

In M.P. what is provided has been mentioned in different issues of 'Joti Journal'. Please refer to **1997 Joti Vol. III Part V October 18, 1998 Joti Vol. IV Part 6 December 16 and 1999 Joti Vol. V Part V October, 373 (375).** It is the right of the accused and duty of the Court under Section 428 Cr.P.C. to order for setting off the

detention and therefore, the Court should not ignore the said provisions before convicting the accused. **Please refer to AIR Vol. 19, 5th Edition paras 21 and 22.**

HOW TO APPLY THE PRINCIPLE :

Here is one visionary-

'A' is arrested in one case on 01-01-1996 and was bailed out. When he was on bail he was again arrested in another case on 01-02-1996. He could not get bail in the second case. Accused 'A' remained in Judicial custody. The accused was convicted and sentenced in first case on 01-02-1997. The accused claims set off from 01-02-1996 to 01-02-1997. The accused should not be given benefit of the said period as he was on bail from the very day he was arrested. However, he can be given benefit of one day for 01-01-1996 when he was arrested and his liberty was restricted. Thereafter the accused was sentenced in second case on 01-02-1998. He claims benefit from 01-02-1996 when he was arrested in second case. The accused may be given benefit in second case from 01-02-1996 to 01-02-1997 as he was in detention in second case though in second case Judgment was pronounced on 01-02-1998 his detention in second case would automatically seize on 01-02-1997 when he was sentenced in first case. As sentence in one case will not be deemed to be detention in 'another case' as I have understood from **Ragbir's case.** Please see ***Raghbir Singh Vs. State, AIR 1984 SC 1796.***

There are abstract examples for pin pointed answer. Please refer to ***Kalyan Singh Vs. D.P. Singh, 1993 M.P.L.J. page 83 B (DB)*** in which it was held that benefit of set off can only be taken once in the case during the Pendency of which the accused remains in custody when the first order of conviction and sentence came on him. Provisions of set off or per-conviction detention period cannot be equated with imprisonment on previous sentence on being sentenced in any of the case while undergoing the previous sentence the principle of set off will not effect to subsequent sentence unless it made to run concurrently with previous sentence.

Paragraphs 8, 9, 10, 11 12 and 13 of the Judgment are reproduced :

8. In view of the provisions of the section it is apparent that the provision is absolute in its terms. It provides for the set-off, the per-conviction detention of an accused person against the term of imprisonment imposed on him after conviction. The section further makes it clear that the period of detention allowed to be set-off against the term of imprisonment imposed on conviction of an accused must be spent by him during the investigation. inquiry or trial in relation to the "Same Case", in which he has been so convicted. It cannot be utilised in "another case" on a subsequent conviction.

9. Once an accused is convicted and sentenced to imprisonment, his pre-conviction period ends and his custody thereafter has to be taken as the sentence undergone towards the awarded sentence. On being sentenced subsequently in any other case, while undergoing the previous sentence, the principle of set-off, would not be applicable. The period of subsequent sentence would commence after the previous sentence has been undergone, unless it is directed by the Court, that the subsequent sentence would run concurrently with the previous sentence, as provided under section 427, Criminal Procedure Code.

10. As such, the benefit of set-off can only be taken once in the case, during the Pendency of which, the accused remained in custody, when the first order of

conviction and sentence came on him. After he is sentenced to imprisonment, the period spent in custody would be the period of his undergoing the sentence of imprisonment. The section only provides for a "set off" of the pre-detention period. It does not equate an under-trial detention with imprisonment on conviction.

11. Section 428 is a new provision introduced in the Code (1973), keeping in view the fact of detention of many under-trial prisoners for pretty long periods at the pre-conviction stage. At times, such period even exceeded the term of imprisonment which could be imposed on them for the offence on their conviction. Dealing with a simliar situation, their Lordships of Supreme Court in ***Raghbir Singh Vs. State of Haryana, Alr 1984 SC 1796,*** found that section 428 of Criminal Procedure Code :-

> "Provides for the setting off of the period of detention as an under-trial prisoner against the sentence of imprisonment imposed on him. Hence in order to secure the benefit of section 428 of the Code, the prisoner should show that he had been detained in prison for the purpose of investigation, inquiry or trial of the case in which he is later on convicted and sentenced. It follows that if a person is undergoing the sentence of imprisonment imposed by a Court of law on being convicted of an offence in one case during the period of investigation, inquiry, or trial of some other case, he cannot claim that the period occupied by such investigation, inquiry or trial should be set off against the sentence of imprisonment to be imposed in the latter case even though he was under detention during such period. In such a case the period of detention is really a part of the period of imprisonment which he is undergoing having been sentenced earlier for another offence. It is not the period of detention undergone by him during the investigation, inquiry or trial of the same case in which he is later on convicted and sentenced to undergo imprisonment. He cannot claim a double benefit under section 428 of the Code i.e.the same period being counted as part of the period of imprisonment imposed for committing the former offence and also being set off against the period of imprisonment imposed for committing the latter offence as well".

12. Shri Suresh Gupta, Advocate, appearing as amicus curiae has placed implicit reliance on ***Bhagirath vs. Delhi Administration. AIR 1985 SC 1050*** to contend that the benefit of set off is available also to an accused who has been sentenced to imprisonment for life. The argument is wholly misplaced. There is no controversy in the given case as to the granting of the benefit of set off to the accused on being sentenced to imprisonment for life, but he dispute is whether the once availed benefit of set off can again be claimed on a subsequent sentence in another case. Therefore, the above authority is of no avail to the petitioner. The petitioner is not entitled to claim the double benefit. The contention therefore has to be rejected.

13. Now the surviving contention is with regard to the subsequent sentences running concurrently with the previous sentence. Section 427, Criminal Procedure Code provides that when an accused is sentenced to imprisonment, while he is already undergoing sentence of imprisonment, the subsequent sentence of imprisonment would commence after the previous sentence has been undergone,

unless it is directed by the Court that the subsequent sentence would run concurrently with the previous sentence. In this regard, an order has already been passed by this Court on 23-10-1990 in M.P. No. 1879/90 filed by the petitioner earlier and therefore no further consideration or order is any more required in this petition.

The case of ***Raghubir Singh Vs. State, AIR 1984 SC 1976*** may prove to be a leading case. In view of this Judgment **1979 Cr.L.J. 362 (DB)** Delhi may not be good law.

This is further stated in ***Param Dev Vs. State, 1975 Cr.L.J. 1346 (1347)*** already referred above. It is immaterial whether the Court while awarding sentence took into consideration the period of sentence of the accused. The provisions are mandatory and the Court has to set off from the period of sentence awarded on the accused.

Judicial Officers are requested to see Sarkar on Criminal Procedure, B.B. Mitra on Criminal Procedure, Sohoni on Criminal Procedure, Ratan Lal and Dhirajlal on Criminal Procedure and the A.I.R. Manual, so that the subject would be more crystal clear. For the circular of the High Court regarding furnishing proforma detailing period of police and judicial custody from the date of arrest till the date of delivery of judgment, please refer to **'Joti Journal' Vol. I Part II *December, 1995) at pages 18 and 19** and with reference to different articles in Joti journal referred to above.

The proforma is again reproduced for ready reference :

निरोध अवधि विवरण तालिका

(धारा **428** दं.प्र.सं. के अंतर्गत)

नाम न्यायालय एवं पीठासीन अधिकारी

1. अपराधिक प्रकरण/ अपील/ रिवीजन/ सत्र प्रकरण क्रमांक : .....
2. पक्षकारो के नाम : राज्य शासन वि. .....
3. अभियुक्त का नाम : ..... पिता का नाम .....
   आयु ..... निवास .....
4. सिद्ध दोष धाराएं

उपरोक्त उल्लेखित अभियुक्त को ऊपर उल्लेखित धाराओं में सिद्ध दोष पाया गया होकर दंडित किया है। निरोध अवधि एवं समायोजन कालावधि इस प्रकार है :

1. अभियुक्त को बंदी बनाने का दिनांक :
2. पुलिस अभिरक्षा में निरोध अवधि :
3. न्यायिक अभिरक्षा की अवधि :
4. अभियुक्त को यदि प्रतिभूति पर मुक्त किया गया था तो उक्त अवधि का विवरण :
5. निरोध में व्यतीत कुल अवधि जो सजा में समायोजित की जाना है :

सील :

स्थान : नाम

दिनांक : पीठासीन अधिकारी पदनाम

CIRCULARS

CIRCULAR NO 50/51/1815/90-1- नि- 6/चार BHOPAL Dtd. 8th JAN. 1991/ENDORS TO M.P. HIGH COURT BY GOVT. OF M.P. FINANCE DEPTT.

विषय :- सेवानिवृत्ति पर अर्जित अवकाश के नगद भुगतान की पात्रता की गणना के संबंध में।

वित्त विभाग के ज्ञाप क्रमांक 87/551/87/नि.1/ चार, दिनांक 2–3–87 द्वारा जारी आदेश दिनांक 10–3–87 से प्रभावशील किये गये हैं, जिसके अनुसार एक वर्ष की अवधि पूर्ण होने पर 7 दिन अथवा 2 वर्ष की अवधि पूर्ण होने पर 15 दिनों के अर्जित अवकाश के समर्पण एवं नगदीकरण की सुविधा दी गई है। इन आदेशों के पूर्व 12 माह के अंतर पर 15 दिन अथवा 24 माह के अंदर पर 30 दिन के अर्जित अवकाश का समर्पण कर, उसके समतुल्य नगद राशि का भुगतान करने की पात्रता थी। अतः सेवानिवृत्त कर्मचारियों को अवकाश के नगदीकरण की गणना के लिये दिनांक 9–3–87 तक 12 माह के अंतर पर 15 दिन तथा 24 माह के अंतर पर 30 दिन के हिसाब से गणना की जानी चाहिए तथा 10–3–87 से 1 वर्ष की अवधि पूर्ण होने पर 7 दिन अथवा **2 वर्ष की अवधि पूर्ण होने पर 15 दिन** के हिसाब से अर्जित अवकाश के नगदीकरण की पात्रता संबंधी गणना की जानी चाहिये। इस प्रकार ऊपर बताये अनुसार पात्रता की गणना कर नगदीकरण तथा समर्पण की कुल सीमा निर्धारित कर तथा इसमें से उतने दिन कम कर दिये जावें, जितने दिनों का अर्जित अवकाश, संबंधित शासकीय सेवक द्वारा, सेवा के दौरान समर्पित कर नगदीकरण किया गया है। यदि सेवा के दौरान समर्पित एवं नगदीकरण किये गये अवकाश की अवधि का लाभ उपर्युक्त गणना के अनुसार ले लिया गया है तो सेवा निवृत्ति पर उसे अर्जित अवकाश के बदले में नगद राशि की अदायगी की पात्रता नहीं होगी। इस संबंध में निम्नानुसार स्थिति स्पष्ट की जाती है :–

(1)	नियुक्ति दिनांक	1–4–51
(2)	सेवानिवृत्ति दिनांक	30–6–88
(3)	दिनांक 1–4–51 से 10–3–87 तक कुल सेवा अवधि	35 वर्ष 11 माह
(4)	10–3–87 से 30–6–88 तक कुल सेवा अवधि	1 वर्ष 3 माह 20 दिन
(5)	कालम 3 में अंकित अवधि हेतु समर्पण अवकाश की पात्रता (एक वर्ष में 15 दिन की दर से)	35x15 = 525 दिन
(6)	कालम 4 में अंकित अवधि हेतु समर्पण अवकाश की पात्रता (एक वर्ष में 7 दिन की दर से)	1 x 7 = 7
(7)	कुल अर्जित अवकाश समर्पण की पात्रता	532 दिन
(8)	घटाइए : सेवा के दौरान लिया गया अवकाश समर्पण का लाभ	232 दिन
(9)	सेवानिवृत्ति पर समर्पण की पात्रता	300 दिन

टीप :-

1. चूंकि उक्त कालम "9" में अंकित 300 दिन की अवधि 240 दिन से अधिक है। अतः कर्मचारी की 240 दिन के अर्जित अवकाश को नगद भुगतान अथवा उतने दिनों के अर्जित अवकाश का नगद भुगतान देय होगा जो सेवा निवृत्ति की तिथि को उनके अवकाश खाते में जमा हो।
2. यह आदेश जारी होने के दिनांक से प्रभावशील होंगे। पूर्व में अन्यथा निपटाये गये प्रकरणो का खाता नहीं खोला जावेगा।

RULES FOR PROCEEDINGS UNDER THE CONTEMPT OF COURTS ACT, 1971

(Act No 70 of 1971)

THE HIGH COURT OF MADHYA PRADESH (CONTEMPT OF COURT PROCEEDINGS) RULES, 1980

In exercise of the powers conferred under Article 225 of the Constitution.of India, Section 23 of the Contempt of Courts Act, 1971 and all other enabling powers in that behalf, to regulate the proceedings for contempt of itself or of a court subordinate to it, the High Court of Madhya Pradesh makes the following Rules :-

1. Title

(1) These rules shall be called The HIgh Court of Madhya Pradesh' (Contempt of Court Proceedings) Rules, 1980.

(2) They shall come into force on the date of publication in the "Madhya Pradesh Gazette".

2. Definitions :- In these rules unless there is anything repugnant to the subject or context :-

(a) 'Act' means the contempt of court Act, 1971 (Act 70 of 1971);

(b) 'High Court' means the High Court of Judicature Madhya Pradesh ;

(c) 'Code' means the Code of Criminal Procedure, 1973 (Act 2 of 1974);

(d) 'Subordinate Court' means any court subordinate to the High Court of Judicature Madhya Pradesh;

(e) 'Registrar' means the Registrar of the High Court and shall include Additional Registrars;

(f) All other words and expressions used in these rules but not defined therein shall have the meanings respectively assigned to them in the Act;

'Civil Contempt' and 'Criminal Contempt' shall have the same meaning as in the definitions in the Contempt of Court Act, 1971.

COGNIZANCES AND PROCEDURE

3. Parties of the Petition

(a) "Every Petition for initiating proceedings under the Act shall be registered either as Contempt Petition (Criminal) or as Contempt Petition (Civil). Contempt Petition (Criminal) and Contempt Petition (Civil) in respect of a bench of two Judge, shall be heard and decided by appropriate Division Bench and contempt Petition (Civil) in respect of a bench presided over by a single Judge shall ordinarily be heard and decided by appropriate Single Bench."

(b) Notice of every Contempt petition (Criminal) shall be issued to the Advocate General)

(c) In a proceeding initiated by petition, the initiator shall be described as petitioner and the cause title shall be as follows :-

In Re..... (name, description etc. of contemner).

4. Contents of the petition -

(a) Every petition, motion or reference made under rule 3 shall contain in precise language the statement setting forth the facts constituting the contempt of which the

person charged is alleged to be guilty and shall specify the date or dates on which the contempt is alleged to have been committed.

(b) When the petitioner relies upon any document or documents in his possession he shall file them along with the petition.

(c) Every petition for taking action under the Act. shall be supported by an affidavit and shall comply with the provisions of rules 2 and 3 of Chapter IV of the M.P. High Court Rules when presented in this Court.

5. (a) Reference under section 15 (2) of the Act may be made by Subordinate Courts either suo motu or on an application received by it.

(b) Before making a reference the subordinate Court shall hold a preliminary enquiry by issuing a show-cause notice accompanied by copies of relevant documents, if any, to the contemner and after receiving the reply, if any, of the show-cause notice the Subordinate Court shall write a concise reasoned order of reference indicating why contempt appears to have been committed.

6. Every motion made by the Advocate General under Sub section (2) of section 15 of the Act shall state the allegations of facts made by the motion-maker, and consent of the Advocate General with brief reasons for grant of the consent.

7. In case of Civil Contempt, the Court concerned shall make a reference to the High Court by following as far as possible the same procedure laid down for reference in case of Criminal Contempt.

NOTICES

8. (a) Every notice issued by the High Court to the contemner shall be accompanied by a copy of motion, petition or reference, as the case may be, together with the copies of affidavits, if any, or other documents forming the basis of the action in Form No. 1 appended to these Rules.

(b) Such notices issued by the High Court shall be signed by the Registrar or the Additional Registrars and shall be sealed with the seal of the High Court.

(c) Notice of every proceeding under this Act shall be served personally on the person charged. unless the Court, for reasons to be recorded. directs otherwise. In that case the service may be effected by alternative form of service authorised by the Code of Civil Procedure and the M.P. High Court Rules.

9. The Court may if satisfied that the person charged is absconding or is likely to abscond or is keeping out is likely to keep out of way to avoid service of the notice order issue of warrant of his arrest which in the case of criminal contempt, may be in lieu of or in addition to the attachment of his property under sub-section (3) and (4) of section 17 of the Act, Such warrants in Form No. 2 appended to these rules may be endorsed in the manner laid down in section 71 of the Code.

10. Whenever the High Court issues a notice it may dispense with the personal attendance of the person charged with the contempt and permit him to appear through an advocate and in its discretion at any stage of the proceeding direct the personal attendance of such person and if necessary enforce such attendance in the manner herein above provided.

11. (a) When any person charged with contempt appears, or is brought before the High Court and is prepared, while in custody or at any stage of the proceeding, to give bail, such person shall be released on bail, if a bond for such sum of money

as the Court thinks sufficient is executed with or without sureties with condition that the person charged shall attend at the time and place mentioned in the bond and shall continue to so attend until otherwise directed by the Court ;

Provided further that the Court may, if it thinks fit, instead of taking bail from such person release him on his executing a bond without sureties for his attendance as aforesaid. or without executing any such bond. The bond shall be as per Form II appended to these Rules.

(b) The provisions of section 436 to 448 and 450 of the Code shall, so far as may be, apply to all the bonds executed under the Rules.

ENQUIRY

12. (a) Any person charged with contempt, other than a contempt referred to in section 14, may file an affidavit in support of his defence on the date fixed for his appearance or on such other date as may be fixed by the Court in that behalf.

(b) If such person pleads guilty to the charge, his plea shall be recorded and the Court may, in its discretion, convict him thereon and commit him to prison under warrant as per Form No. III appended to these Rules.

(c) If such person refuses to plead or does not plead, or claims to be tried or the Court does not convict him on his plea of guilt, it may determine the matter of the charge either on the affidavits filed or after taking such further evidence as it deems fit.

13. A Paper- Book consisting of documents specified in Rules 5 to 7 shall be filed by the petitioner or forwarded by the Court making reference in quadruplicate as the case may be.

14. In case where proceedings are initiated by the High Court. suo motu or on the motion of the Advocate-General, the Registry shall prepare the paper-book in quadruplicate.

15. The Rules contained in M.P. High Court Rules pertaining to grant of copies, process fees and translation of documents and such other matters in respect of which, no provision is made in the Rules shall mutatis mutandis apply to the proceedings in the High Court and similarly when proceedings are pending in subordinate Courts, the Rules made by the High Court for the conduct of business of such subordinate Courts shall apply to those proceedings.

16. The orders passed in the proceedings under the Act shall be carried out, enforced and executed as if they were orders passed by the High Court under the Code.

17. The Court may impose such fine as it deems fit in the circumstances of the case. The fine so awarded shall be recovered in the same manner as under the Code.

18. **Repeal and Savings-** On the coming into force of these Rules, all existing rules or the like governing any matter dealt with or covered by these rules shall stand repealed;

Provided that this repeal shall not affect or invalidate anything done, any action or decision taken, any disposal made, any order or proceeding made or issued under the existing rules before the amendment of these Rules.

Note : Published in M.P. Rajpatra IV (Ga), dated 19-2-83, Page 23-27, Proformas not published.

TIT-BITS

1. ARBITRATION ACT, SECTIONS 2 (a). 32 AND 33 r/w SECTION 9 OF THE C.P.C.: JURISDICTION OF CIVIL COURT : NATURE OF THE SUIT :-
2000 (3) M.P.L.J. 135
LUKESHWAR Vs. DHEBAR SINGH

Suit for declaration that there was never any contract or the contract was void, is not barred.

Section 32 of the Arbitration Act does not contemplate the case of a suit challenging the validity of a contract merely because it contains an arbitration clause. Sections 32 and 33 of the Arbitration Act have a very limited application namely, where the existence or validity of an arbitration agreement is challenged and not the contract itself containing the arbitration agreement is challenged. So a suit for declaration that there was never any contract or the contract was void, is barred.

The genuineness of an arbitration agreement or award cannot be presumed by mere plea of defence. It cannot be assumed that a particular agreement or award covered suit lands. All those questions of facts are to be decided on proof after the pleadings of the defendants.

Paragraphs 19 and 20 are reproduced :

The wording shows that the suit which was barred should be challenging existence, effect or validity of an arbitration agreement or award to enforce it. There is no averment about arbitration agreement or award in the plaint in our case. The Supreme Court in case cited at **AIR 1987 SC 2289** titled ***Oriental Transport Co. Vs. M/s. Jaya Bharat C. & I. Co. Ltd.*** , has observed that section 32 of the Arbitration Act does not contemplate the case of a suit challenging the validity of a contract merely because it contains an arbitration clause. It was observed that sections 32 and 33 of the Arbitration Act have a very limited application namely; where the existence or validity of an arbitration agreement is challenged and not the contract itself containing the arbitration agreement is challenged. So a suit for declaration that there was never any contract or the contract was void, is not barred.

In the present case, the suit is for partition of joint lands, the defendants have not pleaded that these lands had already been partitioned. Even if they had pleaded that the lands had been partitioned by the award, they could establish it. The defendants could not control pleadings of the plaintiffs in any suit. They have raised their defence and have to prove the defence. So the defendants have to prove the existence of an award which has effected partition between the parties which establishes that the disputed lands no longer remained joint between the parties. It might prove a good defence and plaintiffs may be debarred from challenging the award except in a manner required by sections 32 and 33 of the Arbitration Act. The genuineness of an arbitration agreement or award cannot be presumed by mere plea of defence. Further, it cannot be assumed that a particular agreement or award covered suit lands. All those questions of facts are to be decided on proof after the pleadings of the defendants. But, the pleadings were not obtained in this case.

C.P.C., O. 7, R. 11 (d) : JURISDICTION IN THE MATTER OF REJECTION OF PLAINT:-

A plaint can be rejected only when on reading of the plaint itself, either it does not disclose a cause of action or it appears to be barred by some law. The Courts are not entitled to travel beyond the pleadings of the plaint. If the defendants plead that the suit is barred by some law because of some additional factors pleaded by him, then he has to establish these factors.

NOTE :- Judicial Officers are requested to go through the article on the same subject rejection of plaint under O. 7 R. 11 published in 'JOTI JOURNAL' April, 2000 issue.

●

2. ARBITRATION ACT, SECTION 8 AND 4: APPOINTMENT OF ARBITRATOR
2000 (3) M.P.L.J. 27
UNION OF INDIA Vs. RAJU CONSTRUCTION COMPANY, BHOPAL

Appointment of arbitrator by named authority made term of contract by parties. Power to appoint an arbitrator is taken away from jurisdiction conferred upon court under section 8.

Section 8 (1) (a) and (2) arbitration clause providing for appointment of arbitrator by person named in agreement by name or office. In such case section 8 (1) does not apply and consequently section 8 (2) also will not apply as it refers to notice mentioned in section 8 (1).

Paragraphs 13, 19 and 20 are reproduced :

It is clear from the language of the arbitration clause, the appointment of the sole arbitrator is by the named authority to which both the parties have conferred the power of appointment. Once the parties have abdicated their powers of appointment by consent and delegated the power of appointment to an authority named in the agreement, there is no question of consent of the parties. The appointment of the sole arbitrator is upon the discretion of that authority and for this reason section 8 (1) (a) of the Act is out of the way. Section 4 of the Act, on the other hand, enables a party to provide in the agreement that reference thereunder shall be made to an arbitrator by a person named in the agreement by name or by office. The parties in this case have entered into agreement in consonance with section 4'of the Act; For these reasons, section 8 (1) (a) of the Act would not apply. Once Section 8 (1) (a) of the Act does not apply the question of applying section 8 (1) (b) or (c) of the Act would also not arise because section 8 (1) of the Act could not be applied piecemeal. It may also be noticed that section 8 (2) of the Act refers to notice which is sought to be served as per section 8 (1) of the Act. Once it is held that Section 8 (1) of the Act does not apply, if follows as night the day, that section 8 (2) does not apply because it refers notice mentioned in section 8 (1) of the Act.

Apart from the authorities, this Court is of the view that clause 25 of the agreement gives discretion to the named authority to refer the matter to the arbitrator when there is difference between the parties regarding the agreement. It was made clear that no person other than that appointed by the named authority was entitled to act as an arbitrator. This was made the term of a contract. The matter is further clarified by saying for any reason if it was not possible to name an arbitrator the matter is not referred to arbitration at all. That means the arbitration clause shall not be invoked. The clause 25 then applies provisions

of the Act subject to the above conditions amongst others. In view of such agreement the power to appoint an arbitrator is taken away from the jurisdiction conferred upon the Court under section 8 of the Act. No authority was cited before me that such an arbitration agreement would be invalid. Section 4 of the Act does provide that the parties can agree between themselves to designate a person at whose behest the arbitrator shall be appointed. Therefore, when the agreement itself provides as the terms of contract that no person other than the person appointed by the named authority shall act as a sole arbitrator and that the same authority shall have power of fill up the vacancy then the question of application of section 8 of the Act does not arise. In case the arbitrator is not appointed at all by the named authority, the remedy of aggrieved party may be under section 20 of the Act as was done in the case of ***Union of India vs. Prafulla Kumar Sanyal*** (supra) reported in **AIR 1979 SC 1457.** Perhaps it would be much reasonable to hold that the non-appointment of an arbitrator had rendered the arbitration clause ineffective and the parties shall have remedy in accordance with the general law. It may be noticed that by inaction the named authority cannot allow the remedy of the parties to be extinguished by law of limitation.

20. This Court does not agree with the decision of the learned Single Judge in the case of ***State of Haryana vs. Himat Singh*** reported in **1991 (2) Arb. L.R. 231** and holds that the decisions of same Court reported in the case of ***V.K. Construction Works (P) Ltd. Chandigarh vs. M/s Food Corporation of India, Chandigarh and another*** (supra) **AIR 1987, Punjab and Haryana 97** lay down the Correct law. The case of ***State of West Bengal vs. Gourangalal 1993 (2) Arb. L.R. 95*** has no application to facts of the case. In the case of ***Food Corporation of India vs. M. Ramchandra Rao 1993 (2) Arb. L.R. 225*** relates to application under section 20 of the Act and cannot be invoked as an authority in this case. The case of ***State of West Bengal Vs. National Builders, 1994 (1) Arb. L.R. 5*** is inapplicable as it related to the revocation of the authority of the arbitrator. The decision reported as the ***G. Rama Chandra Reddy and Co. vs. Chief Engineer, 1994 (2) Arb. L.R. 61*** also does not apply because it is an application under section 20 of the Act the order was made. The Court followed the decision of ***Union of India vs. Prafulla Kumar*** (supra). The facts of that case are distinguishable.

JURISPRUDENCE : SUBSEQUENT DECISIONS : BINDING EFFECT :

Subsequent jurisdiction of Supreme Court per incuraiam as its earlier judgment reported in **AIR 1992 SC 1124** was not brought to its notice and also sub silentio. The decision of Supreme Court reported in **1993 (3) SCC 654** held is not binding.

Paragraph 16 of the Judgment is reproduced :

It is true that in ***Nandyal Co-operative Spinning Mills Ltd. Vs. K.V. Mohan Rao's*** case reported in **1993 (2) SCC 654 = 1993 (2) Arbitration Law Reporter 359**, a two Judge Bench of Supreme Court has taken the view that the named person does not appoint arbitrator within 15 clear days then it will deemed that the named person had abdicated the power of appointment of the arbitrator and the Court gets jurisdiction to appoint arbitrator under section 8 (1) (a) of the Act. There appears to be direct conflict between the two Benches of Coequal strength. Therefore, this Court has an unenviable task of choosing between the two views. With great respect, the view taken in the case of **Nandyal Co-operative Spinning Mills Ltd.** (Supra) was decided on 11-5-1993 without taking note of the earlier judgment in case of ***M/s H.S. Tuli and Sons Builders Pvt. Ltd.***

Vs. Union of India (Supra) which has decided on 11-2-1992. It appears that this case was reported also prior to delivery of the subsequent judgment. It appears to this Court that this subsequent decision is per incuriam in the sense that the earlier judgment was not brought to the notice of their Lordships. It is per incuriam for another reasons that it does not discuss the essential terms of section 8 (1) (a) of the Act that there should be consent of both the parties which was not there after delegation of power to the named authority. After analysing section 8 (1) (a) of the Act in paragraph (8) of judgment and mentioning the condition No. 4 regarding consent, their Lordships of the Supreme Court omitted to consider if condition No. 4 was applicable to the facts of the case. The judgment rendered is sub silentio. Nor does the authority ***Union of India Vs. Prafulla Kumar Sanyal (1979)1 SCC 631*** was applicable to section 8. It is an authority on section 20 (4) of the Act. The decision of the Bombay High Court in the case of ***Union of India Vs. M/s Ajit Mehta and Associates*** reported in **AIR 1990 Bombay 45,** was distinguished but was not overrule In the opinion of this Court, the decision of the Supreme Court in the case of **Nandyal Co-op. Spinning Mills Ltd.** (supra) is not binding on this Court as it is not law declared within the meaning of Article 141 of the Constitution.

●

3. (1) CONTRACT ACT, SECTION 56 (2) r/w ART. 226 OF THE CONSTITUTION OF INDIA FRUSTRATION OF CONTRACT :-
2000 (4) M.P.H.T. 169
MOHAMMED GAZI Vs. STATE OF M.P.

Contract between parties frustrated. Respondents are not entitled to compel petitioner to carry out contract. Respondents are duty bound to retun money. Direction to deduct Rs. 30,000/- from earnest money is not justified. No person can be penalised for no fault of his merely by resorting to equity.

LEGAL MAXIMS : 'ACTUS CURIAE NEMINEM GRAVABIT' AND 'LEX NON COGIT AD IMPOSSIBILIA' :-

An act of the court shall prejudice no man. The maxim 'Actus curiae neminem gravabit' is founded upon justice and good sense which serves a safe and certain guide for the administration of law. **JT 1987 (3) SC 555 = (1987) 4 SCC 398** and **JT 1996 (1) SC 647 = (1996) 2 SCC 459** relied on.

The maxim 'lex non cogit ad impossibilia' means the law does not compel a man to do which he cannot possibly perform. **JT 1987 (3) SC 555 = (1987) 4 SCC 398** and **JT 1996 (1) SC 647 = (1996) 2 SCC 459** relied on.

NOTE :- Judicial Officers are requested to go through the provisions of Sections 56 of Contract Act regarding frustration of contract and section 64 and section 65 of the Contract Act regarding the refund of consideration received under the contract.

●

4. CONSTITUTION OF INDIA, ARTICLE 226 : POWER TO AWARD INTEREST WHERE THERE IS NO PROVISION :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 99
HOPE TEXTILES LTD. Vs. UNION OF INDIA

Interest can be awarded by High Court hearing petition under to do complete justice between parties.

NOTE :- Perhaps this may not mean that the trial courts, i.e. Civil Courts have no jurisdiction to award interest as per market custom in case there is no provision or there is no agreement.

●

5. CONSTITUTION OF INDIA, ARTICLE 226. ERRING PERSON IN HIS OWN NAME AND NOT IN THE NAME OF THE POST WHICH HE IS HOLDING BE IMPLEADED: 2000 (2) JLJ 182
S.P. ANAND Vs. STATE

Persons forming the Government are answerable to the public and Courts. In fit cases they can be impleaded as parties by name.

By our constitutional protection and its wider impact, fortunately the persons forming the government, are answerable to the public and Courts. Therefore, in fit cases they can be impleaded as parties and can be made answerable to the Courts of Law even by naming them and arraying them as defendants. If there are personal allegations and the matters are necessitating their presence in personal capacities, the Courts in India are empowered to do so.

Writ Petition under Article 226 of the Constitution. Chief Secretary represents the State. Chief Minister need not be impleaded. Ex-Mayor by name may be impleaded to identify a particular ex-mayor among a number of ex-mayors.

●

6. CONTEMPT OF COURTS ACT : SECTION 15 (2)
2000 (2) M.P.L.J. 72
PRADEEP MITTAL Vs. CHANDRABHAN SINGH

Paragraphs 25 and 29 are reproduced :

The facts would show that the respondent firstly submitted a false reply to the Court that Mahesh s/o Matadeen was not lodged in his police station. He after finding that Mahesh was recovered from his police station with the help and assistance of his own Head Constable Moharir Om Prakash and Nagendra Sharma, S.H.O. Antri created false records despite knowing that he was recording wrong information. After concocting and manufa cturing the false entries with the help and assistance of Head Constable Moharir Om Prakash and S.H.O. Narendra Sharma he used the same in the Court proceedings. The manner in which he behaved disentitles him from being exempted. So far as the second incident is concerned we are nnot ready and willing to accept that he did not appear in the Court nor misbehaved with the Presiding Officer. We have no reason to disbelieve the proceedings recorded in Civil Suit and the statements of the witnesses. The defence raised by the respondent is false and is false to his own knowledge.

While disposing of this petition we direct the Registry to register a case against Station House Officer, Antri Shri Narendra Sharma, Head Constable Moharir Om Prakash of Police Station Billuoa for helping and assisting the respondent in manufacturing and creating false and forged documents knowing well that the same would be used in the Court. Notices be also issued to the then Inspector General of Police, Gwalior and S.D.O. (P) Dabra as to why without permission of the Court/High Court they proceeded with the enquiry into the conduct of a Judge. These persons be issued notice, to show cause, as to why they be not punished for committing contempt of the lawful authority of the Court by creating false and forged documents and by interfering with the Court of justice.

NOTE :- Judicial Officers are requested to go through the whole judgment to know the complete facts of the case.

●

7. C.P.C., SECTION 9 AND O. 23 R. 3 : SUIT FOR DECLARATION :-
2000 (3) M.P.L.J. 157
PRAMILA DATTATRAYA Vs. KESHAVRAO LAXMAN RAO

Alleged execution of sale deed nominal. Defendant admitted the claim. Parties filed compromise. Entertainment by Court.

That even after considering the effect of filing the suit as alternative to executing a reconveyance, appellants were entitled not to pursue the path of reconveyance if they could get the decree of the Court in respect of suit land and obtain relief by an alternative mode. If it was a nominal sale deed, it need not be set aside. A decree of declaration would be sufficient for setting aside a sale deed in name as distinguished from a real and substantial sale deed having definite legal consequences. The admission of title or attempt to compromise could not be said to be solely geared to avoidance of stamp duty. In other words there was compromise in the larger sense but not collusion which is sham compromise with a sinister motive or oblique purpose. The question of avoiding stamp duty did not arise as no instrument was executed which required payment of the duty. The compromise was accepted by both the parties and their statements were recorded. Thus there was every reason to hold that the matter was compromised. The suit filed by the appellants decreed and it was declared that appellants/plaintiffs were the owners of the suit plot.

●

8. C.P.C., O. 33 AND Rr. 10, 11, 11A AND 14 : SCOPE OF APPLICABILITY OF RULE 14 :-
2000 (3) M.P.L.J. 36
ANIL KUMAR Vs. STATE BANK OF INDIA

On rejection of the application to sue as an indigent person and failure to pay the Court fees as payable within the time as granted by the Court, the pauper application (suit) was dismissed. The trial Court directed the Collector to take appropriate action under O. 33 R. 14. In fact provisions of O. 33 R. 14 not applicable.

NOTE:- Judicial Officers are requested to go through the whole judgment as this judgment is regarding whether the Court has jurisdiction to recover the court fees and the consequences if permission to sue as pauper not given.

●

9. C.P.C., O. 41 R. 27, Cl. (b) : POWER OF APPELLATE COURT TO ADMIT ADDITIONAL EVIDENCE : STAGE EXPLAINED :-
2000 (3) M.P.L.J. 130
ABHAY KUMAR NATTHULAL Vs. SANTOSH KUMAR

The party against whom the additional evidence is admitted must be given opportunity to rebut it on principles of 'natural justice'. Such powers cannot be exercised unless court hears the parties on merits of the case.

●

10. C.P.C., SECTION 10 : STAY TO SUIT : PENDING CRIMINAL CASE MAY BE SEEN: 2000 (3) M.P.L.J. 53
NEMICHAND Vs. HARISH KUMAR

Suit for recovery of amount covered under dishonoured cheques cannot be stayed under Section 10, CPC solely on ground that the complaint under section 138 of Negotiable Instruments Act in respect of the dishonoured cheque as instituted was pending. ***State of Rajasthan Vs. M/s Kalyan Sundaram Cement Industries Ltd. , 1996 (II) MPWN Note 61*** relied on.

●

11. C.P.C. O. 12 R. 6 : JUDGMENT ON ADMISSIONS :-
(2000) 7 SCC 120
UTTAM SINGH Vs. UNITED BANK OF INDIA

It was held on facts that it was not necessary to examine what kind of admissions were covered by expression "otherwise" under O. 12 R. 6. In the Objects and Reasons set out while amending Rule 6 of Order 12 CPC it is stated that "where a claim is admitted, the court has jurisdiction to enter a judgment for the plaintiff and to pass a decree on admitted claim. The object of the Rule is to enable the party to obtain a speedy judgment at least to the extent of relief to which according to the admission of the defendant, the plaintiff is entitled."

Paragraph 13 of the judgment is reproduced :

The next contention canvasses is that the resolution or minutes of the meeting of the Board of Directors, resolution passed thereon and the letter sending the said resolution to the respondent Bank cannot amount to a pleading or come within the scope of the Rule as such statements are not made in the course of the pleadings or otherwise. When a statement is made to a party and such statement is brought before the court showing admission of liability by an application filed under Order 12 Rule 6 and the other side has sufficient opportunity to explain the said admission and if such explanation is not accepted by the court, we do not think the trial court is helpless in refusing to pass a decree. We have adverted to the basis of the claim and the manner in which the trial court has dealt with the same. When the trial Judge states that the statement made in the proceedings of the Board of Directors' meeting and the letter sent as well as the pleadings when read together leads to unambiguous and clear admission with only the extent to which the admission is made in dispute, and the court had a duty to decide the same and grant a decree, we think this approach is unexceptionable.

●

12. C.P.C., O. 41 Rr. 23A AND 24 : REMAND OF CASE WHEN NOT NECESSARY :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 96
KASHIRAM Vs. GRAM PANCHAYAT

Evidence on issue/point sufficient on record including admission. Case should not be remanded for recording further evidence. The appeal should be decided on merits.

●

13. C.P.C., SECTION 115 : REVISION : CERTIFIED COPY TO BE FILED WITH REVISION :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 184
MUNICIPAL CORPORATION, MURWARA Vs. LALCHAND JAISWAL

Certified copy is to be filed with the revision but a certified copy of the order impugned filed within period of limitation, question of limitation would not arise.

(1) C.P.C. O. 7 R. 11 AND (2) M.P. MUNICIPAL CORPORATION ACT, SECTION 401:

Civil suit filed against Municipal Corporation without serving statutory notice. The plaint is liable to be rejected under O. 7 R. 11. (Judicial officers are requested to go through the facts of the case and ***Nagar Palika Parishad Vs. Sarvadaman 1973 JLJ S.N. 13***)

●

14. C.P.C., O. 41 R. 27 C.P.C.
2000 (2) VIDHI BHASVAR 180
ANIL KUMAR Vs. RAJA

Documents not produced in original. No application filed to produce additional evidence. No written statement filed in trial Court. No reason written assigned for not producing such document in the trial Court. Document cannot be entertained.

●

15. C.P.C., O. 41 R. 27 :-
2000 (2) JLJ 212 (SC)
PRABHUDAYAL Vs. M.P. RAJYA NAGARIK AAPURTI NIGAM LTD.

Application for production of Additional evidence not considered by the First Appellate Court. The effect of not considering such application should be considered by the second appellate court.

NOTE :- Judicial Officers are requested to go through the judgment in ***1989 (1) M.P.W.N. 167 Mohini Bai Vs. Variety General Stores.*** Extract from The Note is reproduced.

Before disposing of this appeal finally the contention of Shri Garg in respect of the application under O. 41 R. 27 CPC has also to be dealt with. When an application under O. 41, R, 27 CPC in an appeal is filed it is trite law that the said application cannot be heard and disposed of without hearing the arguments in appeal on merits. See **AIR 1951 SC 193** ***Arjan Singh v. Kartar Singh and others,*** and the cases of this Court reported in ***Khemchand v. Gov. of M.P.*** **(1972 JLJ 482)** and **1988 (Vol. II) M.P. Weekly Note, 59.** It is also trite law that an application under O. 41, Rule 27 CPC cannot be allowed to fill up lacuna of the case and the additional evidence can only be admitted if it is established that notwithstanding the exercise of due diligence such evidence was within the knowledge of a party and could not be produced by the said party at that time of appeal or the same has been illegally refused by the Court or the appellate Court requires such evidence to be produced to enable it to pronounce judgment or for any other substantial cause. The lower appellate Court after hearing the appeal did not find any of the grounds not it was necessary for the lower appellate Court to pronounce the judgment, hence the lower appellate Court rightly did not pass any order on such an application. A careful reading of the judgment of the lower appellate Court shows that the lower appellate Court without being influenced by such evidence has pronounced the judgment on merits on the material which was relied upon by the parties in the trial Court. In such circumstances it cannot be said that the lower appellate Court committed any illegality in not passing any order on the application under O. 41, R. 27 C.P.C. filed by the respondents.

The order authorities which have been relied upon by Shri Garg does. Not lay down that it is incumbent upon the Court to pass an order on the application under O. 41, 27 C.P.C. even if the Court is of opinion that the evidence which is sought to be produced by way of additional evidence, is not necessary for pronouncing the judgment, but, it would have been proper if the Lower Appellate Court would have passed an order after giving reasons that the document which the respondent wants to be admitted in evidence, is not required to pronounce the judgment. But in my opinion this irregularity does not affect the decision of appeal on merits as the note-book was not required for the pronouncement of the judgment, so as to give an opportunity to the appellants to rebut the same for which the appellants have filed an application under O. 41. R. 27 CPC in this Court. **1972 JLJ 482, 1988 (II) MPWN 59, AIR 1969 SC 225, 1975 JLJ 595, AIR 1951 SC 193, AIR 1963 SC 302 and 1988 JLJ 653 relied on. AIR 1976 SC 2403. 1977 (I) MPWN 594 & 1954 MBLJ 569** distinguished. Appeal dismissed.

●

16. (1) C.P.C., SECTION 9 : JURISDICTION OF CIVIL COURTS AND (2) LAND ACQUISITION ACT, Ss. 4 AND 6 :-
PASHU CHIKITSA VIBHAGYA.... MARYADIT, BHOPAL Vs. STATE OF M.P.
2000 (3) M.P.L.J. 244

Suit for questioning the acquisition proceeding cannot be initiated in the Civil Court, since the Collector under the Act is competent to decide the matter under the Land Acquisition Act, which is a complete Code for dealing with the land acquisition matter. The civil Court has no jurisdiction to go into the question of validity and legality of Notification under section 4 and the declaration under section 6 of the Act. By a necessary implication, the power of Civil Court to take cognizance under S. 9 of the C.P.C. stands excluded. ***State of Bihar Vs. Dhirendra Ku. and others,*** **1995 MPLJ 751** relied on.

●

17. C.P.C., SECTION 9 :-
2000 (3) M.P.L.J. S.N. 7
SARASWATI SHISHU VIDYA MANDIR SAMITI, SEONI Vs. BALRAM CHOUDHARY

Suit by plaintiff/ respondent employed as Accountant with Saraswati Shishu Vidya Mandir Samiti, under provisions of Saraswati Shiksha Perishad Madhya Pradesh 'Sewa Sanhita'. Jurisdiction of Civil Court. Civil Court had jurisdiction to entertain civil suit to examine correctness of order of removal notwithstanding agreement between parties or provisions under Sewa Sanhita. Order of Appellate Court called for no interference.

●

18. C.P.C., O. 1 R. 10
2000 (3) M.P.L.J. 218
NIRMALA DHARSINGH Vs. RANJIT SINGH

The presence of applicants seeking joinder under O. 1 R. 10 appeared to be necessary in order to completely and effectually adjudicate upon and to settle the question involved in the suit. Their impleadment was rightly allowed.

●

19. C.P.C. O. 23 R. 3A AND S. 151 :-
2000 (3) M.P.L.J. 204
BABULAL Vs. SMT. CHATURIYA

Application to set aside compromise decree under Section 151, CPC maintainable on the ground that the same was unlawful.

An application under section 151 of the CPC for setting aside the compromise decree on the allegation the same is unlawful, is maintainable under Section 151 of the CPC. **AIR 1993 SC 1139, AIR 1982 Cal. 12, AIR 1985 Karnataka 270** relied on and **1985 MPLJ 149=AIR 1985 M.P. 171** distinguished. (**Note :** Please refer to ***Guddi Vs. Banwari 1999 (I) M.P.L.J. Page 63*** Regarding Challenge to compromis decree Forum)

●

20. C.P.C., SECTION 100 : SECOND APPEAL- DOCUMENT- INTERPRETATION OF MIXED QUESTION OF LAW AND FACT : SUBSTANTIAL QUESTION OF LAW :- CONSTRUCTION OF DOCUMENTS :-
(2000) 7 SCC 60
SANTAKUMARI Vs. LAKSHMI AMMA JANAKI AMMA

The law was restated by the Supreme Court that it involves a substantial question of law.

NOTE:- Judicial Officers are requested to go through the principles relating to question of law, question of fact and mixed question of law and fact which was published in **1997 'JOTI JOURNAL' PT. III VOL. III AT PAGE 6.**

●

21. C.P.C., O. 39 R. 3-A, Rr. 3 AND 1 r/w O. 43 R. 1 (R) & SECTION 104 : DISPOSAL OF INJUNCTION APPLICATION WITHIN STATUTORY PERIOD MANDATORY :-
(2000) 7 SCC 695
A. VENKATA SUBBAIH NAIDU Vs. S. CHELLAPPAN AND OTHERS

Application regarding ex parte interim injunction must be disposed of finally within 30 days. The Court's failure to do so within time will itself be deemed to be an appelable final order. It is the acknowledged position of the law that no party can be forced to suffer for the inaction of the Court or for its omissions to act according to the procedure established by law. "Actus Curiae neminem gravabit".

The order granting ex parte interim injunction is appealable if such application is not finally disposed of within 30 days. Failure of the Court to finally decide the application or vacate the ex parte temporary injunction would, on expiry of 30 days, be deemed to be for purposes of appeal a final order passed on application. Aggrieved party would be entitled to appeal despite the pendency of the application for grant or vacation of the temporary injuncton.

Paragraphs 15 to 24 of the judgment are reproduced here :

15. What would be the position if a court which passed the order granting interim ex parte injunction did not record reasons thereof did not require the applicant to perform the duties enumerated in clauses (a) and (b) of Rule 3 of Order 39. In our view such an order can be deemed to contain such requirements at least by implication even if they are not stated in so many words. But if a party, in whose favour an order was passed ex parte, fails to comply with the duties which he has to perform as required by the proviso quoted above, he must take the risk. Non-complaince with such requisites on his part cannot be allowed to go without any consequence of the party (who secured the order) for not com-

plying with the duties he is required to perform is that he cannot be allowed to take advantage of such order if the order is not obeyed by the other party. A disobedient beneficiary of an order cannot be heard to complain against any disobedience alleged against another party.

16. Learned Single Judge stated that the trial court ought not to have granted ex parte injunction beyond thirty days to be in force. The said observation is based on the language contained in Order 39 Rule 3-A of the Code which reads thus :

> "3-A. Where an injunction has been granted without giving notice to the opposite party, the court shall make an endeavour to finally dispose of the application within thirty days from the date on which the injunction was granted : and where it is unable so to do, it shall record its reasons for such inability."

17. **The Rule does not say that the period of the injunction order should be restricted by the court to thirty days at the first instance, but the court should pass the final order on it within thirty days from the day on which the injunction was granted. Hence, the order does not ipso facto become illegal merely because it was not restricted to a period of thirty days or less.**

18. Nonetheless, we have to consider the consequence, if any, on account of the court failing to pass the final orders within thirty days as enjoined by Rule 3-A.

19. The aforesaid Rule casts a three-pronged protection to the party against whom the ex parte injunction order was passed. First is the legal obligation that the court shall make an endeavour to finally dispose of the application of injunction within the period of thirty days. Second is, the legal obligation that if for any valid reasons the court could not finally dispose of the application within the aforesaid time the court has to record the reasons thereof in writing.

20. What would happen if a court does not do either of the courses? We have to bear in mind that in such a case the court would have by passed the three protective humps which the legislature has provided for the safety of the person against whom the order was passed without affording him an opportunity to have a say in the matter. First is that the court is obliged to give him notice before passing the order. It is only by way of a very exceptional contingency that the court is empowered to bypass the said protective measure. Second is the statutory obligation cast on the court to pass final orders on the application within the period of thirty days. Here also it is only in very exceptional cases that the court can bypass such a rule in which cases the legislature mandates on the court to have adequate reasons for such bypassing and to record those reasons in writing. If that hump is also bypassed by the court it is difficult to hold that the party affected by the order should necessarily be the sole sufferer.

21. **It is the acknowledged position of law that no party can be forced to suffer for the inaction of the court or its omissions to act according to the procedure established by law. Under the normal circumstances the aggrieved party can prefer an appeal only against an order passed under Rules 1, 2, 2-A, 4 or 10 of Order 39 of the Code in terms of Order 43 Rule 1 of the Code. He cannot approach the appellate or revisional court during the pendency of the application for grant or vacation of temporary injunction. In such circumstances the party which does not get justice due to the inaction of the court in following the**

mandate of law must have a remedy. So we are of the view that in a case where the mandate of Order 39 Rule 3-A of the Code is flouted, the aggrieved party, shall be entitled to the right of appeal notwithstanding the pendency of the application for grant or vacation of a temporary injunction, against the order remaining in force. In such appeal, if preferred, the appellate court shall be obliged to entertain the appeal and further to take note of the omission of the subordinate court in complying with the provisions of Rule 3-A. **In appropriate cases the appellate court, apart from granting or vacating or modifying the order of such injunction, may suggest suitable action against the erring judicial officer, including recommendation to take steps for making adverse entry in his ACRs.** Failure to decide the application or vacate the ex parte temporary injunction shall, for the purposes of the appeal, be deemed to be the final order passed on the application for temporary injunction, on the date of expiry of thirty days mentioned in the Rule.

22. Now what remains is the question whether the High Court should have entertained the petition under Article 227 of the Constitution when the party had two other alternative remedies. Though no hurdle can be put against the exercise of the constitutional powers of the High Court it is a well-recognised principle which gained judicial recognition that the High Court should direct the party to avail himself of such remedies one or the other before he resorts to a constitutional remedy. Learned Single Judge need not have entertained the revision petition at all and the party affected by the interim ex parte order should have been directed to resort to one of the other remedies. Be that as it may, now it is idle to embark on that aspect as the High Court had chosen to entertain the revision petition.

23. In the light of the direction issued by the High Court that the trial court should pass final orders on the interlocutory application filed by the plaintiff on merits and in accordance with law, we may further add that till such orders are passed by the trial court, status quo as it prevailed immediately preceding the institution of the suit would be maintained by the parties.

24. This appeal is disposed of with the above observations and directions.

NOTE:- Judicial officers are requested to go through article in **J.O.T.I. (1999) 6 Dec. 1999 'Page 470'** अस्थायी निषेधाज्ञा and Rule and orders Civil Ch. 12. The rules are reproduced for ready reference.

judicial Officers are further requested to see that the applications should be disposed of within statutory period of 30 days.

अध्याय 12

प्रासंगिक कार्यवाहियां

(INCIDENTAL PROCEEDINGS)

इस अध्याय में अस्थाई निषेधाज्ञा, निर्णय के पूर्व आसेध या बन्दीकरण, दावों का वापिस लिया जाना तथा रिसीवरों (प्रापकों, Receivers) की नियुक्ति संबंधी नियम है तथा इनका संबंध व्यवहार प्रक्रिया संहिता के आदेश 38, 39, 33 और 40 तथा धारा 94 से है। यह नियम मध्यप्रदेश उच्च–न्यायालय द्वारा निर्मित किये हैं तथा विज्ञप्ति क्र. 10620–तीन– 1-5-57 दिनांकित 26-10-61 के द्वारा दिनांक 1-1-62 से प्रभावशील हुए हैं।

1. अस्थायी निशेधाज्ञायें
(Temporary Injunctions)

269 न्यायालयों का ध्यान व्यवहार प्रक्रिया संहिता से आदेश 39 नियम 1 से 5 तक की ओर आकृष्ट किया जाता है जिनमें कि न्यायालयों की सामान्य शक्तियां, तथा सामान्य परिस्थितियां जिनके कि अंतर्गत न्यायालय अस्थायी निषेधाज्ञा स्वीकार कर सकती है, का उल्लेख है।

टिप्पणी :- व्यवहार संहिता के आदेश 39 के नियम 1 में उन दावों का उल्लेख है जिनमें अस्थाई निषेधाज्ञायें दी जा सकती हैं। नियम 2 अनुबंध के भंग करने आदि की रोक के संबंध में निषेधाज्ञा के विषय में है। नियम 3 में यह निर्देश है कि निषेधाज्ञा देने के पूर्व न्यायालय विरुद्ध पक्ष को सूचना देने का निर्देश करे, तथा नियम 4 में निषेधाज्ञा के हटाने, परिवर्तित करने या निरस्त करने संबंधी प्रावधान है। आदेश 39 नियम 5 के अनुसार निगम के विरुद्ध दी गई निषेधाज्ञा का उसके पदाधिकारियों पर लागू होना कहा गया है।

270. अस्थायी या अंतरिम (Interim) निषेधाज्ञायें व्यवहारिक रूप में, एक पक्षीय में केवल अपवादिक परिस्थितियों में ही स्वीकृत की जाना चाहिये। सामान्यतया वे तब तक स्वीकृत नहीं की जाना चाहिये जब तक कि वादी न्यायालय को इस वाद का पूर्ण रूप से संतोष नहीं दिलाता है कि समस्त उचित तत्परता के बरते जाने के बाद भी यह अवश्यम्भावी हो गया है कि वह प्रतिवादी की अनुपस्थिति में आवेदन करे। यदि ऐसी निषेधाज्ञा स्वीकृत की जाती है तो वह केवल, प्रतिवादी के न्यायालय में निषेधाज्ञा के विरूद्ध कारण बताने हेतु उपस्थित होने में लगने वाले न्यूनतम समय के लिये ही लागू की जाना चाहिये जिन विशेष कार्यों को करने की रोक की गई है उनका वर्णन स्पष्ट शब्दों में करने का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिये।

टिप्पणी :- जो व्यक्ति वाद में पक्षकार नहीं हो उसके विरूद्ध निषेधाज्ञा जारी नहीं की जाना चाहिये। (***सागर साईन ट्रेडर्स वि. गोविंदराम,* 1965, म.प्र. लॉ जर्नल शॉर्ट नोट 155=1965 ज. लॉ जर्नल शॉर्ट नोट 147**)। अकिंचन द्वारा अकिंचन के रूप में वाद लाने की अनुमति के प्रार्थना–पत्र के साथ ही अस्थाई निषेधाज्ञा चाही जा सकती है (***गोपीलाल वि. नागजीराम* 1962 म.प्र. लॉ जर्नल शॉर्ट नोट 108=1962 ज.लॉ. जर्नल 120**) अस्थाई निषेधाज्ञा जारी करने तथा रिसीवर नियुक्त करने संबंधी शक्तियों का बड़ी सावधानी से प्रयोग किया जाना चाहिये (1957 जबलपुर लॉ जर्नल 914)। अस्थाई निषेधाज्ञा जारी करने में जिन बातों का ध्यान रखा जाना चाहिये उनका विवेचन निर्णय ***जसबंतसिंह वि. बलभद्र सिंह*** (**1967 जबलपुर ला जर्नल शार्ट नोट 87**) में किया गया है। इस संबंध में (***छगनलाल वि. श्रीनिवास* 1965 म.प्र. ला जर्नल पृष्ठ 417 तथा ए.आई. आर. 1963 म.प्र. 208**) भी देखे जाने योग्य है।

न्यायालय अस्थाई निषेधाज्ञा का आदेश देते समय उचित शर्तें भी साथ में लगा सकती है। (***इन्दुमतीबाई वि. रूक्मणी देवी* 1970 ज.ला. जर्नल शार्ट नोट 26**)।

271. वाद–पत्र तथा शपथ–पत्र की एक प्रतिलिपि प्रतिवादी पर निर्वाहित की जाना चाहिए तथा उसके जवाब में अपना शपथ–पत्र प्रस्तुत करने के लिये उसे कुछ दिनों का समय दिया जाना चाहिए। उसी प्रकार वादी को भी, यदि आवश्यक हो, बहुत थोड़ा समय, और शपथ–पत्र, यदि कोई हो, प्रस्तुत करने को दिया जा सकता है, तथा तदनुसार प्रार्थना पत्र की सुनवाई के लिये दिनांक नियत किया जाना चाहिए। न्यायाधीश को फिर उस नियत, दिनांक पर उस प्रार्थना पत्र का निराकरण करना चाहिए, परन्तु यदि सुनवाई स्थगित किया जाना आवश्यक पाया जाता है तो न्यायालय को, प्रतिवादी की उपस्थिति में स्थगन काल के लिये आदेश देना चाहिए, परन्तु केवल उतनी सीमा तक जितनी की प्रकरण की विशिष्ट परिस्थितियों में अत्यावश्यक हो।

नोट :- (1) यह बात ध्यान में रखने की है कि एक पक्षीय में निषेधाज्ञा स्वीकृत करने से गंभीर उत्तरदायित्व उत्पन्न हो जाता है, तथा यदि वह स्वीकृत की गई है तो न्यायाधीश को प्रतिवादी की रक्षा के हरसंभव उपाय करने का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।

नोट :- (2) एक पक्षीय निषेधाज्ञायें तब अधिक स्वतंत्रता से स्वीकृत की जा सकती हैं जबकि उसे चाहनेवाला पक्ष अपने को निर्बन्धनों (Terms) से बांधने को सहमत हो, अर्थात् परिणामस्वरूप हुई समस्त हानि का भुगतान करने को तैयार हो, यदि प्रकरण में यह सिद्ध होता है तो निषेधाज्ञा नहीं चाही जानी ,चाहिए थी।

272. जिला जजों को उनकी अधीनस्थ न्यायालयों के उनके निरीक्षण के समय इस बात की ध्यानपूर्वक जांच करना चाहिए कि क्या न्यायालयों ने निषेधाज्ञा संबंधी विषयों को उचित रीति से तथा न्यायिक सिद्धान्तों के अनुरूप हाथ में लिया है। जिस सामग्री (Material) के आधार पर एक पक्षीय निषेधाज्ञायें स्वीकृत की गई है उसकी विशेष रूप से जांच करना चाहिए तथा यदि वह सामग्री अपर्याप्त पाई जावे तो यह तथ्य संबंधित न्यायाधीश को स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए। विशेषतः यह निश्चित किया जाना चाहिए कि क्या प्रतिवादी की सुनवाई का अवसर दिया गया था तथा क्या एक पक्षीय में दिया गया आदेश केवल निर्धारित समय के लिये प्रभाव में रहने के लिये सीमित किया गया था। यह विषय अपीलों के निराकरण के समय भी जांचा जाना चाहिये।

273. उस व्यक्ति जिसके विरूद्ध आदेश 21 नियम 58 के अंतर्गत प्रस्तुत आपत्ति या अधियाचना में, आदेश दिया जा चुका है, द्वारा आदेश 21 नियम 63 के अन्तर्गत प्रस्तुत दावे में प्रवर्तन के स्थगन (Stay) का आदेश तब तक नहीं दिया जाना चाहिये जब तक कि न्यायालय को यह संतोष न हो कि आपत्ति–पत्र या अधियाचना में दिया गया आदेश, प्रथम दृष्टि में सदोष (Wrong) एवं अप्रतिबाध (Indefensible) है।

273 (क) (1) कभी कभी अन्तवर्ती निषेधाज्ञाएं बहुत ही निर्बाध रूप से (Too freely) एवं निबंधन (terms) अधिरोपित करने की ओर पर्याप्त ध्यान दिए बिना ही स्वीकृत की जाती हैं। ऐसे विषयों के संदर्भ में इस बात पर सदा ध्यान दिया जाना चाहिए कि अविवेकपूर्ण एक पक्षीय आदेश जारी किया जाकर वादी को अनुचित लाभ उठाने की स्थिति में न कर दिया जावे।

(2) अस्थायी निषेधाज्ञा हेतु आवेदन पर कार्यवाही करने में न्यायालयों को निम्न सिद्धान्तों द्वारा मार्गदर्शन लेना चाहिये।

(एक) वाद–पत्र तथा शपथ–पत्रों का सूक्ष्म रूप से (critically) परीक्षण किया जाना चाहिए और न्यायालयों का अपना यह समाधान कर लेना चाहिए कि वास्तव में अधिकारों पर ऐसा आक्रमण (invasion) हुआ है जो हस्तक्षेप करने के औचित्य को सिद्ध करने हेतु पर्याप्त है।

(दो) न्यायालयों को विचार करना चाहिए कि एक पक्षीय अन्तवर्ती निषेधाज्ञा केवल बहुत ही असाधारण परिस्थितियों में और सामान्यतया केवल ऐसे मामलों में जिनमें आवेदक यह सिद्ध करें कि उसकी ओर से किसी भी युक्ति युक्त तत्परता (reasonable deligence) के द्वारा उस आवेदन को देने की आवश्यकता को परिहार (avoid) नहीं किया जा सकता था, जारी किया जाना चाहिए। इस संबंध में व्यवहार प्रक्रिया संहिता के आदेश 39 नियम 3, जिसमें कि यह निर्देश है कि जब तक आपात (emergency) इतनी गंभीर न हो कि नोटिस से निषेधाज्ञा का अभिप्राय व्यर्थ हो जाएगा नोटिस दिया ही जाएगा (Shall be given) की ओर ध्यान आकृष्ट किया जाता है।

स्थानीय निकाय तथा उसी के सदृश संस्थाओं के विरूद्ध अस्थाई निषेधाज्ञाओं हेतु आवेदनों पर कार्यवाही करने में विशेष सतर्कता बरती जानी चाहिये।

(तीन) जब अस्थायी निषेधाज्ञा स्वीकृत की जाती है तब सामान्यतया वह केवल उतने ही समय के लिए प्रभाव–पूर्ण रहना चाहिए जितना कि प्रतिवादी को निषेधाज्ञा के विरूद्ध हेतुक दर्शित करने के लिए न्यायालय के समक्ष उपस्थित होने के लिए न्यूनतम रूप से आवश्यक हो।

(चार) इस प्रकार की निषेधाज्ञा स्वीकृत करते समय, उन विशिष्ट कार्यों जिनको कि निषिद्ध किया गया है का ठीक ठीक शब्दों में वर्णन करने का अत्याधिक ध्यान रखा जाना चाहिए। अस्पष्ट एवं व्यापक आदेश, कि निषेधाज्ञा हेतु दिया गया आवेदन स्वीकार किया जाता है, कभी भी अभिलिखित नहीं किया जाना चाहिए। ऐसे विनिर्दिष्ट निदेशों के अभाव में निषेधाज्ञाओं के आदेश बहुधा वाद–पत्र अथवा निषेधाज्ञा हेतु दिये गये आवेदन में वर्णित भरभराहट पूर्ण लम्बे (Long rumbling) कथनों की नकल करके लिख दिए जाते हैं।

(पांच) प्रतिवादी पर वाद–पत्र तथा शपथ–पत्र की प्रतिलिपियां निर्वाहित (serve) की जाना चाहिए तथा उनके पश्चात् अल्प दिनों का समय, उन दिनों के अन्दर उपस्थित होने तथा आपत्ति करने के लिये, दिया जाना चाहिए। पीठासीन न्यायाधीश को, सामान्यतया, इस प्रकार नियत दिनांक पर उस आवेदन का निपटारा कर देना चाहिए तथा स्थगन बहुत ही परिमित रूप से स्वीकृत किया जाना चाहिए। यह बात अत्यंत महत्व की है कि निषेधाज्ञा के आवेदनों की सुनवाई एवं निर्णय सर्वाधिक शीघ्रता से किया जावे।

(3) पूर्वगामी चरणों में जो बातें निहित हैं उनसे संहिता के अधीन न्यायालयों के विवेकाधिकार को निर्बन्धित (restrict) करना आशयित नहीं है, किन्तु इस सामान्य सिद्धान्त के अनुसरण करने की अभीष्टता पर बल देना आशयित है कि अस्थायी निषेधाज्ञा तब तक स्वीकृत नहीं की जाना चाहिए जब तक कि बहुत ही प्रबल एवं निश्चायक (very strong and cogent) आधार ज्ञात न होते हों।

टिप्पणी :- मध्य–प्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा विज्ञप्ति क्र. 5410–अ ती–1–5–57 सी. एच. 12 दिनांक 16 अप्रैल 1974 के द्वारा भारतीय संविधान के अनुच्छेद 227 सहपठित मध्य–प्रदेश व्यवहार न्यायालय अधिनियम, 1958 की धारा 23 एवं अन्य समस्त समर्थकारी शक्तियों को प्रयोग में लाते हुए, राज्यपाल की पूर्व स्वीकृति से, रूल्स एण्ड ऑर्डर्स (सिविल) 1961 के अध्याय 12 में अस्थायी निषेधाज्ञाओं के संबंध में यह नियम 273–क और जोड़ा है। यह नियम 273–क मध्य–प्रदेश राज–पत्र दिनांक 1 सितम्बर 1974 के भाग 4 (ग) में प्रकाशित हुआ है।

इस नियम का मुख्य अभिप्राय यही है कि अस्थायी निषेधाज्ञा का आदेश बहुत ही प्रबल एवं निश्चायक आधारों पर दिया जाना चाहिए। आज्ञापक प्रकृति (mandatory nature) की अस्थायी निषेधाज्ञा जारी करने के विषय में निर्णय **1973 म.प्र. ला जर्नल 973=1173 ज. ला ज. 914** ***रामा वि. मंगलिया,*** उल्लेखनीय है। अस्थायी अथवा अन्तवर्ती निषेधाज्ञा स्वीकृत करने के उद्देश्य एवं सिद्धान्तों के विषय में मध्य–प्रदेश उच्च न्यायालय की खण्डपीठ द्वारा दिया गया निर्णय ***सुरेन्द्रसिंह आदि वि. श्योराज बहादुर सिंह*** आदि (**1975 जबलपुर लॉ जर्नल 140**) महत्वपूर्ण है। उस निर्णय में अस्थायी निषेधाज्ञा स्वीकृत करने हेतु निम्नलिखित सिद्धान्त वर्णित किये गये हैं।

(1) क्या आवेदक के पक्ष में प्रथम दृष्टि में प्रमाणित मामला (prima facie case) है।

(2) क्या, यदि कार्यवाही के लम्बित रहने के काल में आवेदक के पक्ष में निषेधाज्ञा स्वीकृत नहीं की गई तो उसे अपूर्तिनीय (irreparable) क्षति होगी।

(3) क्या सुविधा का संतुलन (Balance of convenience) आवेदक के पक्ष में है?

विशेष टिप्पणी :- अंतर्वर्ती आदेश के विरूद्ध अपील की दशा में अधीनस्थ न्यायालय को प्रकरण के अभिलेख का कितना भाग अपील न्यायालय को भेजना चाहिए इस संबंध में माननीय मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय

द्वारा दिये गये निर्णय **1975 ज.ला. जर्नल 796** (*किसनसिंह आदि विरूद्ध लक्ष्मणसिंह* आदि) में यह कहा गया है कि जबकि अस्थाई निषेधाज्ञा की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के आदेश के विरूद्ध अपील प्रस्तुत किया जाता है तो अपील न्यायालय की अध्यप्रेक्षा (requisition) पर, विचारण न्यायालय द्वारा केवल अस्थाई निषेधाज्ञा से संबंधित अभिलेख, अर्थात आवेदन पत्र, उसका उत्तर, तथा पक्षकारों द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य भेजा जाना चाहिये। वाद–पत्र तथा प्रतिवाद–पत्र की प्रतिलिपियां भी भेजी जाना चाहिये। प्रकरण के गुणावगुण (merits) के आधार पर विचारण संबंधी अभिलेख केवल उसी दशा में भेजा जाना चाहिये जबकि अपील अथवा पुनरीक्षण न्यायालय ने उसकी विनिर्दिष्ट रूप से (specifically) अपेक्षा की हो, अन्यथा नहीं भेजा जाना चाहिये। इससे प्रकरण के विचारण में अनावश्यक एवं अवांछित रुकावट पैदा नहीं होगी। दिनांक 18–9–75 को भी माननीय मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा निर्णीत **सिविल रिविजन क्रमांक 279 सन् 1972 (अमरसिंह एवं 26 अन्य विरूद्ध सामूहिक कृषि सहकारी संस्था मर्यादित, सुठारा)** में भी यह प्रतिपादित किया गया है कि केवल अस्थाई निषेधाज्ञा से संबंधित लेख ही अपील न्यायालय को भेजे जाना चाहिये तथा अभिवचनों (Pleadings) अथवा अन्य प्रलेखों, यदि वे अपील न्यायालय द्वारा निरीक्षण हेतु आवश्यक हो तो, उनकी प्रतिलिपि प्राप्त करने का कार्य पक्षकारों का है।

आभार : श्री शांति कुमार जैन, सेवानिवृत्त जिला न्यायाधीश एवं जर्नल पब्लिकेशन्स, नागपुर

●

22. Cr.P.C. SECTIONS 227. 239-40 AND 251 AND 252 : FRAMING OF CHARGE OR PARTICULARS :-
2000 (4) M.P.H.T. 115
RAJENDRA KUMAR DALKE Vs. STATE OF M.P.

At the stage of framing of charge, it can be framed even on a strong suspicion founded on the material and presumptive opinion is available on the record. At this stage Court is not expected to appreciate the evidence and discharge the accused. Material on record must satisfy that the commission of offence by accused was probable. Neither the material nor the documents are required to be considered meticulously. Preparation of false documents and false checking (auditing) of documents are criminal misconduct. Prima faice material on record is available on record hence the High Court refused to interfere at the stage of framing of charge under Prevention of Corruption Act. **AIR 1995 SC 1959, AIR 1980 SC 52, AIR 1990 SC 121, 1986 SCC (Cr) 256, AIR 1986 SC 1652, 1982 SCC (Cr) 148, AIR 1980 SC 84** and **2000 SC 665** followed.

●

23. Cr.P.C., SECTIONS 24, 301 (2), 225, 397 AND 482 :-
2000 (4) M.P.H.T. 124
RADHESHAM Vs. STATE OF M.P.

Relative Advocate of the complainant was appointed as Special Public Prosecutory by the State Government in the case. The accused objected to it. The High Court held that only independent person should be permitted to prosecute the prosecution case . As trial court has already granted permission to assist the Public Prosecutor, the High Court did not interfere with the order of the trial Court. High court further held that under Section 24 of Cr.P.C. the Special Public Prosecutor can be appointed to protect the interest of the state in administration of criminal justice, but in such cases, only independent, impartial and lawyers of status and repute should be appointed as Public Prosecutors. Such a

public prosecutor is expected not to act as protagonist. He should always uphold the dignity of high office.

NOTE :- Judicial Officers are requested to go through the citation published in **'Joti Journal' 2000 February issue at page 63, Titbit No. 21** ***Shiv Kumar Vs. Hukumchand. (1999) 7 SCC 467***

●

24. Cr.P.C. SECTIONS 397 (2) AND 401 r/w NEGOTIABLE INSTRUMENTS ACT SECTIONS 138 AND 141 : REVISION AGAINST INTERIM ORDERS :-
2000 (4) M.P.H.T. 33 (NOC)
M/s. BHIWANI DENIM & APPARELS LTD. Vs. M/s. BHASKAR INDUSTRIES

Orders which are matters of moment and which affect or adjudicate the rights of the accused or a particular aspect of the trial cannot be said to be interlocutory order so as to be outside the purview of the revisional jurisdiction of the High Court and therefore, revision petition is maintainable. **AIR 1977 SC 2185** distinguished.

In the absence of any allegations and averments in the complaint that the applicants/ accused Nos. 3 to 15 were in charge of or responsible for the conduct of the business of the accused company in view of sections 138 and 141 of the Act, the complainant was not entitled to initiate prosecution against them. **(1984) 4 SCC 352, 1991 (1) Cr.L.J. 609, 1994 (II) Crimes 72** and **1998 Cr.L.J. 10** distinguished.

NOTE:- Judicial Officers are requested to go through **(2000) 1 SCC page 1** ***Anil Hada Vs. Indian Acrylic Ltd.*** on the question regarding who should be made a party in case prosecution of drawer company. The extracts are reproduced for ready reference with the courtesy of Supreme Court Cases publishers Eastern Book Company Lucknow :

NEGOTIABLE INSTRUMENTS ACT, SECTIONS 138, 139 AND 141 :-

Prosecution of drawer company held, not prerequisite for prosecution and conviction of its directors, officers and persons in charge under S. 141 (1) and (2) Finding that drawer company in fact committed offence under S. 138 however essential. Even though where drawer of cheque is a company such company is the principal offender under S. 138 and other categories of persons mentioned in S. 141 (1) and (2) only become liable if such company has in fact committed the offence, held, it is not necessary that company itself be prosecuted. However, a finding that offence was committed by the company is the sine qua non for convicting the other persons. Such persons cannot escape penal liability simply because the company is not prosecuted as a result of some legal impediment. Judicial Magistrate suspending proceedings against accused company under winding-up orders. He also dismissing application of appellant accused director of company seeking quashing of proceedings against himself. It was held that High Court rightly dismissed appellant's revision petition.

Presumption under Section 139, it was held that may be rebutted by any of the accused. Where drawer company does not adduce evidence or is not made an accused at all, accused office-bearers are within their rights to adduce rebuttal evidence to establish that the company did not issue the cheque towards any antecedent liability. Contention rejected that S. 139 lends support to the plea that unless the drawer company is prosecuted the company directors cannot be prosecuted. Under Sections 102 and 103 of the Evidence Act, purpose of legal presumption is only to cast burden of proof. Drawer of

cheque is the sole offender under Section 138. It is because of S. 141 that penal liability is extended to other persons connected with the drawer company.

Drawer of a cheque whether he is a human being or a body corporate or even a firm, can be prosecuted under S. 138.

●

25. Cr.P.C., SECTION 457 AND INDIAN FOREST ACT, SECTIONS 52, 41 AND 42 :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 85
ASRAR KHAN Vs. STATE OF M.P.

Truck used in commission of forest offence. Concerned Magistrate intimated of initiation of forefeiture proceeding. Magistrate has no jurisdiction to release the truck on supurdginama.

Paragraphs 4 and 5 of the judgment are reproduced :

The learned counsel for the applicant argued that the Sessions Judge failed to consider that the charge-sheet did not contain any allegations against the owner, and the confiscation proceedings were started in violation of the principles of natural justice. It was also urged that there was no evidence that the vehicle was used with the knowledge or connivance of the owner. Objection about the maintainability of revision petition was also raised urging that it has been filed without the order of the Law Department.

This Court has considered the arguments advanced and has also gone through the impugned order, and it does not see any reason to interfere with the order of the Sessions Judge. Since the Forest Department had already started confiscation proceedings under section 52 of the Forest Act of which notice was sent to the Magistrate, it was rightly held that release of the truck by the Magistrate on supurdnama was not proper. The other objection about maintainability is of technical nature.

●

26. Cr.P.C., SECTION 475 r/w SECTIONS 125 AND 126 ARMY ACT, 1950 AND Rr. 3 AND 4 OF CRIMINAL COURTS AND COURT-MATERIAL (ADJUSTMENT OF JURISDICTION) RULES, 1952 : TRIAL BY ORDINARY COURT OR COURT MARITAL :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 124
P.K. REKWAL (CAP.) Vs. STATE OF M.P.

Offence should be such which may be tried in either of the Court. The procedure for trial in Court not followed as prescribed under. Trial is vitiated. The investigation entrusted to CBI would not change course of jurisdiction of trial court prescribed under the Rules. The Magistrate shall have regard to such rules, framed under section 475 Cr.P.C. by the Central Government.

Accused being subject to Army Act provisions of Sections 125 and 126 Army Act r/w Rules 2 and 4 of Criminal Courts and Court Marshall (Adjustment of jurisdiction) Rules, 1952 will be applicable.

NOTE :- Judicial Officers are requested to go through Chapter 13 Rules 333 to 351 regarding trial of cases relating to army personnel.

●

27. Cr.P.C. SECTION 97 : SEARCH WARRANT :
2000 (3) M.P.L.J. 268
PUSHPA RAMESH KUMAR Vs. RAMESH KUMAR

Child in the custody of father. It is not wrongful confinement.

In exercise of power under section 97 of the Code of Criminal Procedure, a Magistrate cannot issue a direction for production of the child from the custody of the father and direct that the child shall be in custody of the mother because the custody of the child with the father does not amount to wrongful confinement and thereby no offence is committed attracting the provisions of section 97 of the Code. Application under section 97 in the circumstances was not maintainable. **1990 Cri. L.J.. 1085, AIR 1969 Delhi 304 and 1992 Cri, L.J. 2237** relied on.

●

28. Cr.P.C., SECTIONS 216, 397 AND 482 : AMENDMENT AND ADDITION OF CHARGES :- POWER OF COURTS
2000 (3) M.P.L.J. 286
HABIB Vs. STATE OF M.P.

Amendment and addition of charges does not amount to reviewing of earlier order when only charge under Section 420 of the I.P.C. is framed.

Complainant under Section 420 I.P.C. was registered. On or about 3-2-1988 the Chief Judicial Magistrate framed the charge under section 420, IPC against the respondents. In application under Section 216 CPC filed on 21-8-1990 prayer for framing charges for offence under sections 78, 79 and 88 of Trade and Merchandise Marks Act, 1958 was made which was rejected holding that his predecessor had framed charge only under section 420 IPC against the respondents and impliedly discharged the respondents of the offences under the Act add now framing of charges under the Act would have the effect of reviewing the order passed by his predecessor which was not permissible under the Criminal Procedure Code. Complainant filed petitions under section 482, Criminal Procedure Code.

It was held that non-framing of charge under the Act did not amount to discharge of the offences under the Act. Section 216, Criminal Procedure Code gives ample power to the Magistrate to alter or add any charge at any time before the judgment is pronounced. Addition of charge in exercise of power under Section 216, Criminal Procedure Code does not amount to reviewing of earlier order. No prejudice would be caused to the respondents if new charges are added as the trial is at the initial stage. There is no bar in treating these petitions as filed under Section 397 of the Criminal Procedure Code.

This Court can call for and examine the record of any proceeding of the lower Court for examining the correctness. legality or propriety of any order. Procedural law is designed to subserve the ends of justice and not to frustrate it. The Chief Judicial Magistrate had jurisdiction to add new charge. He however failed to exercise his jurisdiction under section 216, Criminal Procedure Code and thereby committed illegality and grave error in passing the impugned order.

●

29. CRIMINAL TRIAL : I.P.C., SECTIONS 149 AND 34 : COMMON INTENTION :-
2000 (4) M.P.H.T. 175 (DB)
NARAYAN SINGH Vs. STATE OF M.P.

Whether appellants formed common intention to cause death of deceased and killed

him. It was held from the evidence of witnesses it is clear that appellant/Narayan Singh gave only one Farsi-blow on the head of deceased. He did not repeat blows. It clearly shows that he had no intention to kill deceased. Deceased died after 12 days. Hence, he caused injury on head with deadly weapon. He had knowledge that by causing injury with Farsi on head, he was likely to cause death of deceased. Appellant/Narayansingh is liable for offence of culpable homicide not amounting to murder punishable under section 304-II, IPC.

EVIDENCE ACT, SECTION 101 : BURDEN OF PROOF AND I.P.C. SECTION 100 : BURDEN OF PROOF - PRIVATE DEFENCE :-

The burden of proving right of private defence lay on the appellants. Of course, they are not expected to prove it beyond reasonable doubt as the prosecution is required to do so. It is sufficient if they show preponderance of probability in their favour. But they miserably failed to do so.

●

30. CRIMINAL TRIAL - INJURIES ON PERSON OF ACCUSED :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 82
STATE OF M.P. Vs. JAI SINGH

Grievous and external injuries on person of accused and one deceased not explained. Right of self defence available to accused.

●

31. CRIMINAL TRIAL : CIVIL AND CRIMINAL PRACTICE :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 136 (SC)
P.K. SHASTRI Vs. STATE OF M.P.

Judgment not concluded within the time allowed by the High Court. Reasonable explanation furnished for the delay should be accepted instead of ordering adverse entry in confidential records.

(2) DUTY OF THE COURT :-

Case not concluded within time allowed by the High Court. The concerning Court should be approached by proper application to the High Court by extension of time.

(3) CIVIL SERVICES - RECORDING OF CONFIDENTIAL NOTE :-

Confidential records of officers are basically performance appraisal of officer and go to constitute vital service record in relation to his career advancement. Adverse remarks should not be made till they are imperative.

●

32. CRIMINAL TRIAL :-
2000 (2) JLJ 229
RAJENDRA KUMAR Vs. STATE OF M.P.

Defect or illegality in investigation, however serious may be has no direct bearing on competence or procedure related to cognizance or right. ***H.N. Rishbud and Anr. Vs. State of Delhi, AIR 1955 SC 196*** followed.

●

33. EVIDENCE ACT, SECTIONS 65 (a), 66 AND C.P.C. O. 11 R. 15 : SECONDARY EVIDENCE MODE OF :-
2000 (3) M.P.L.J. 142
RAM SINGH Vs. RAM DAYAL

The original document was in possession or power of defendant. Plaintiff sought to lead secondary evidence of Xerox copy of the original. Prior service of notice under O. 11 R. 15 C.P.C. r/w Section 66 of the Evidence Act was necessary to party in whose possession or power the document was. Permission to lead secondary evidence is given.

NOTE :- Section 65 (a) of Evidence Act Runs As Follows :-

"When the original is shown or appears to be in the possession or power of the person against whom the document is sought to be proved...."

For example in case of a notice by the plaintiff to the defendant prior to the institution of the case is to be proved by the plaintiff. The copy of the notice may not be sufficient for proof and for that it is the duty of the plaintiff to give notice to the defendant to produce the original of the notice.

Judicial Officers are also requested to go through Section 62 of Evidence Act to know about the preparation of copies by mechanical process. Therefore, if the copy of the notice was prepared by mechanical process that may amount to primary evidence under section 62. Therefore to understand the law regarding Secondary evidence please go through the whole judgment.

●

34. EVIDENCE ACT, SECTIONS 67 AND 73 : PROOF OF SIGNATURE OR WRITING : MODE OF PROOF : COMPARISION OF DISPUTED AND ADMITTED WRITING :-
2000 (3) M.P.L.J. 108
KUER PRASAD Vs. MST. SUKHARAJUA

The court is not precluded from doing so in the circumstances of a particular case.

●

35. EVIDENCE ACT, SECTION 92 PROVISO (4) : EXCLUSION OF EVIDENCE OF ORAL AGREEMENT : PRINCIPLES LAID DOWN :-
(2000) 7 SCC 104
S. SAKTIVEL Vs. M. VENUGOPAL

According to proviso (4) to Section 92 of the Evidence Act where under law a contract or disposition is required to be in writing and the same has been reduced to writing, its terms cannot be modified or altered or substituted by oral contract or disposition. No parol evidence will be admissible to substantiate such an oral contract or disposition. A document for its validity or effectiveness is required by law to be in writing and, therefore, no modification or alteration or substitution of such written document is permissible by parol evidence and it is only by another written document the terms of earlier written document can be altered, rescinded or substituted. There is another reason why the defendant-appellant cannot be permitted to let in parol evidence to substantiate the subsequent oral arrangement. The reason being that the settlement deed is a registered document. The second part of proviso (4) to Section 92 does not permit leading of parol evidence for proving a subsequent oral agreement modifying or rescinding the registered instrument. The terms of a registered document can be altered, rescinded or

varied only by subsequent registered document and not otherwise. If the oral arrangement as pleaded by the appellant is allowed to be substantiated by parol evidence, it would mean rewriting of the settlement deed and, therefore, no parol evidence is permissible.

It is not disputed that by settlement deed Muthuswamy passed on right to property to all his sons, who acquired right in the property. Where there is such conferment of title to the property, law requires it to be in writing for its efficacy and effectiveness. A document becomes effective by reaşons of the fact that it is in writing. Once under law a document is required to be in writing parties to such a document cannot be permitted to let in parol evidence to substantiate any subsequent arrangement which has the effect of modifying earlier written document. If such parol evidence is permitted it would divest the other parties to the written document of their rights. Therefore, the subsequent oral arangement setup by the defendant/appellant cannot be proved by the parol evidence. Such an evidence is not admissible in evidence.

EVIDENCE ACT, SECTION 115 : ESTOPPEL BY CONDUCT :-

Agreement before the trial Court, where parties had agreed before trial court that disputed document was a settlement deed and not a will and Court Proceeded on that basis, it was held the defendant appellant could not plead before Supreme Court that the document was a will.

●

36. (1) EVIDENCE ACT : SECTION 50 : PRESUMPTION REGARDING MARRIAGE: (2) HINDU SUCCESSION ACT, SECTION 3 (1) (j) PROVISO, 8 AND SCHEDULE : (3) INDIAN SUCCESSION ACT, SECTIONS 4 AND 8 :
2000 (2) JLJ 176
RAMKALI Vs. MAHILA SHYAMWATI

No evidence admissible under Section 50 of Evidence Act had been led to prove the relationship of wife and husband between Ramkali and Chhote Singh of such habit and repute which could raise a presumption in respect of the marriage. Even otherwise where the alleged marriage is void ab initio or originates in concubinage, no such presumption in regard to the marriage can available under the law.

Presumption in favour of marriage does not arise merely on the ground of co-habitation. Cohabitation must be with habit and repute.

Under S. 8 and Schedule of Hindu Seccession Act widow is a female whose marriage is not void de jure. It means a female whose marriage was recognised by law and who survives husband without remarriage.

Under Sections 3 (1) (j) proviso, 8 and Schedule and Indian Succession Act, 1925, Ss. 4 and 8 legitimate and illegitimate son and daughter are two distinct and separate classes. They do not stand on par but stand apart. Interest of illegitimate son on daughter is saved by proviso to S. 3 (i) (j). In 1925 Act their interest is not so saved.

HINDU, MARRIAGE ACT, SECTIONS 11, 12 AND 16: PROTECTION :-

Protection of interest of child under s. 16 is available when a marriage taken place which is declared void either under S. 11 or 12 provision does not apply when there is no marriage. ***Reshamlal Vs. Balwant Singh and others, 1994 JLJ 160*** relied on.

●

37. EVIDENCE ACT, SECTIONS 45, 138 AND 145 : DUTY OF THE COURT TO CLARIFY
2000 (2) JLJ 169 (SC)
JAGDISH Vs. STATE

Doctor specifically denying axe injuries in cross-examination. Court is not supposed to get clarification of any inconsistency between chief and cross examination. Doctor deposing injuries to have been caused by axe in chief examination. Contradicting the same in cross-examination. Court is not supposed to get clarification of the elicited contradiction.

●

38. FOREST LAWS : SEIZURE OF VEHICLE UNDER FOREST LAWS AND UNDER PROVISIONS OF SECTION 451 TO 459 OF THE Cr.P.C. : KARNATAKA FOREST ACT, 1963 SECTIONS 2 (7), 62, 71-A, 71-C, AND 71-G :-
(2000) 7 SCC 80
STATE OF KARNATAKA Vs. K. KRISHNAN

Provisions of the Act should be strictly complied with. Generally the seized forest produce and the vehicle, boat, tools etc. used in commission of forest offence should not be released. Even if court is inclined to release the same, the authorised officer must specify reasons therefor and must insist on furnishing of bank guarantee as the minimum condition. Forest produce transported in violation of provisions of the Act. Vehicles used in connection with the transportation along with the forest produce seized. Vehicle released by authorised officer subject to certain conditions including furnishing of bank guarantee. Petition filed under S. 482 Cr PC for quashing of the order of the authorised officer and unconditional release of the vehicle. Condition regarding bank guarantee modified by High Court and the petitioner-respondent instead directed to furnish two solvent sureties to the extent of Rs. 1,50,000 each for the purpose of getting interim custody of the vehicle. It was held that High Court adopted a casual approach and its order was contrary to law. Cr.P.C. Section 482 depricated the casual approach in respect of offences relating to forests.

●

39. HINDU MARRIAGE ACT, SECTION 24 :
2000 (2) VIDHI BHASVAR 76
MAMTA JAISWAL (SMT) Vs. RAJESH JAISWAL

Party having capacity of earning choosing to remain idle, cannot be allowed to any alimony and expenses. Lady fighting matrimonial petition of divorce cannot be permitted to sit idle and put her burden on husband. The purpose of enacting Section 24 of Hindu Marriage Act is for needy persons. Benefit cannot be asked by idle persons having capacity to earn. A well educated wife, in the present case M.Sc., M.C., M.Ed. cannot be supposed to need any other person for travelling with her. She does not require any expenses for such person's journey, to attain her proceedings in the Court. Please refer to ***Pawan Kumar Jain Vs. Smt. Sunita Jain 200 (II) M.P. W.N. 178.***

●

40. HINDU LAW : ALIENATION BY KARTA : QUESTION OF VALIDITY :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 162
PRAKASH CHANDRA Vs. NANDA KISHORE

Alienation by karta for the benefit of estate and also for legal necessary valid and cannot be challenged by any member of the joint hindu family.

(2) HINDU MINORITY AND GUARDIANSHIP ACT, SECTION 8 AND 8 (3) :-

This section applies only to exclusive property of minor. Alienation by his natural guardian without permission can be challenged only by such minor and none else is competent to challenge.

●

41. INSURANCE : M.V. (OLD AND NEW) SECTION 95 OLD : TIME OF INSURANCE (2000) 7 SCC 50
NATIONAL INSURANCE CO. LTD. Vs. CHINTO DEVI

Insurer, relying on cover note, alleging that the policy was taken at 4.45 p.m. Insured denying the issuance of any cover note and, relying on his deposition, alleging the insurance policy to have been issued at 10.00 a.m. Accident took place at 11.30 a.m. It is a question of fact and it was not decided by the trial court. The case was remanded back with this condition that in such circumstances, Supreme Court directing the insurer and the insured owner to pay half and half of the decretal amount and to deposit the same with the Claims Tribunal. Supreme Court permitting the amount so deposited to be withdrawn by the claimant without any security. Supreme Court granting liberty to the person succeeding before the Claims Tribunal to recover the balance amount to the extent of success from the other person.

●

42. I.P.C. SECTIONS 141, 147, 149, 302 AND 324 IPC
2000 (2) VIDHI BHASVAR 109
MALSINGH Vs. STATE OF M.P.

As a practice complainant party and accused persons were on with arms who were returning from religious mela. Therefore, they cannot be said to have formed unlawful assembly. Sudden mutual fight between two parties taking place. Provision cannot be invoked for purpose of imposing constructive liability on accused persons. Every accused is liable for his own act. Accused causing arrow injuries. Victim died. Offence under Section 302 made out.

Gun shot injuries were caused on non-vital part of the body of deceased. Offence is under S. 324 and not under Section 302.

●

43. I.P.C., SECTION 304-A :- RASH AND NEGLIGENT DRIVING : WHAT AMOUNTS TO THE CULPABLE RASHNESS AND CRIMINAL NEGLIGENCE EXPLAINED :- (2000) 7 SCC 72
MOHAMMED AYNUDDIN Vs. STATE OF A.P.

Passenger, while boarding a bus, falling down therefrom when the bus moved forward and run over by the rear wheel of the bus resulting in her death. The question was when can driver of the bus be held to be guilty of culpable negligence. Negligence of the driver cannot always be presumed. In absence of any evidence showing that the driver moved the vehicle before getting signal from the conductor to move. It was held that it cannot be presumed that the passenger fell down due to negligence of the driver.

WORDS AND PHRASES : RASH ACT AND CRIMINAL NEGLIGENCE EXPLAINED:-

Paragraphs 9 and 10 of the judgment are reproduced :-

A rash act is primarily an overhasty act. It is opposed to a deliberate act. Still a rash act can be a deliberate act in the sense that it was done without due care and caution. Culpable rashness lies in running the risk of doing an act with recklessness and with indifference as to the consequences. Criminal negligence is the failure to exercise duty with reasonable and proper care and precaution guarding against injury to the public generally or to any individual in particular. It is the imperative duty of the driver of a vehicle to adopt such reasonable and proper care and precaution.

In the present case the possible explanation of the driver is that he was unaware of even the possibility of the accident which happend. It could be so. When he moved the vehicle forward his focus normally would have been towards what was ahead of the vehicle. He is not expected to move the vehicle forward when passengers are in the process of bording the vehicle. But when he gets a signal from the conductor that the bus can proceed he is expected to start moving the vehicle. Here no witness has said, including the conductor, that the driver moved the vehicle before getting a signal to move forward. The evidence in this case is too scanty to fasten him with criminal negligence. Some further evidence is indispensably needed to presume that the passenger fell down due to the negligence of the driver of the bus. Such further evidence is lacking in this case. Therefore, the Court is disabled from concluding that the victim fell down only because of the negligent driving of the bus. The corollary thereof is that the conviction of the appellant of the offence is unsustainable.

●

44. I.P.C., SECTION 376 (2) (F) : RAPE : SENTENCE : ADEQUATE AND SPECIAL REASONS MUST BE DISCLOSED BY THE SENTENCING COURT FOR REDUCING THE SENTENCE FROM THE STATUTORY MINIMUM OF 10 YEARS' RI
(2000) 7 SCC 75
STATE OF A.P. Vs. POLAMALA RAJU

Sentencing court must award the sentence commensurate the gravity of the offence, having regard to all the relevant facts and circumstances including the demand of the society for justice in case of such heinous crime of rape of innocent helpless children. Trial Court Convicted the respondent under S. 376 for 5 years. Adequate and special reasons must be disclosed by the sentencing court for reducing the sentence from the statutory minimum of 10 years' RI.

●

45. I.P.C., SECTIONS 100, 302 AND 304 : RIGHT OF SELF DEFENCE :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 191
MOHAN LAL Vs. STATE OF M.P.

Accused suffered one simple injury on head region. Right of self defence exceeded. Offence falls under Section 304 Pt. I and not under Section 302. **AIR 1993 SC 70** followed.

Cr.P.C., SECTION 313 : APPRECIATION OF STATEMENT :-

Accused said in his statement under Section 313 that suffering of head injury from the hands of the deceased. The version was corroborated by medical evidence. Benefit of self defence can be claimed and given.

●

46. I.P.C., SECTION 506-B : QUANTUM OF PROOF :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 168
PARSU Vs. STATE

Prosecutrix in court evidence does not say threatening at point of knife. No offence under made out.

●

47. LIMITATION ACT, SECTION 5 AND C.P.C. SECTION 100 : CONDONATION OF DELAY IN SECOND APPEAL :-
2000 (3) M.P.L.J. 26
MANORAMABAI Vs. MUNICIPAL COUNCIL, KHARGONE

Plea of bonafide mistake of perusing of remedy before writ court. Even before filing writ petition, delay was of 65 days. The peitioner was assited by the lawyer. The writ proceedings pursued deliberately as a camouflaging device. The delay was not condoned by the High Court. The cleverness of choosing erroneous forum of approaching the writ court cannot wash out the delay which was already to the discredit of the petitioner. The bad credit would lead to deficiency and that deficiency has been surfaced by way of delay which was prayed to be condoned.

●

48. MOTOR VEHICLES ACT, 1988, SECTIONS 165/166 AND 168 : UNMANNED RAILWAY CROSSING AND THE LIABILITY OF THE RAILWAYS :-
2000 (3) M.P.L.J. 1
UNION OF INDIA Vs. SATISH KUMAR

Under Motor Vehicles Act, 1988 claim against persons or agencies other than driver, owner or insurer. The words "any person" in section 168 are referable to any person other than owner or insurer of the motor vehicle. Where there is negligence of railway only and not that of motor vehicle involved in the accident the claim will not be maintained before the Claims Tribunal.

The driver of the Motor Cycle had stopped the vehicle at an unmanned railway crossing while railway engine was passing. After it passed through another train came from the opposite direction without blowing whistle. The driver of the Motor Cycle could not see the train approaching from the other side as its visibility was obstructed by the engine which had passed immediately before the train came from the other direction. The facts indicated that not only that there was no gate or chain put and no man was posted, but no sign board on either side of the railway crossing was placed. In such circumstances, it was necessary for the driver of the train to have blown the whistle. Failure to do so would amount to negligence of the railways. There was thus failure on the part of the railway to carry out common law duties making it liable to pay the compensation. ***1998 ACJ 342 and 1966 All. E.R. 162*** referred to.

Accident of motor cycle with train at unmanned railway crossing. Deceased driver of motor cycle burriedly started vehicle as soon as engine passed by blowing whistle and dashed against approaching train as its visibility was obstructed by passing engine. Deceased 50% responsible for accident but his negligence would not come in way of deceased pillion rider and who was entitled for entire compensation awarded by Tribunal

and same not liable to be reduced by 50 Percent There is no law which can fasten liability on a passenger for the negligence of the driver.

●

49. MOTOR VEHICLES ACT, 1988, SECTION 170 :-
2000 (3) M.P.L.J., 121
NEW INDIA ASSURANCE COMPANY LTD. Vs. INDER SINGH

The provisions of Section 170 does not apply for the first time for the defence and quantum of compensation not available to the Insurance Company.

●

50. MOTOR VEHICLES ACT, 1988, SECTIONS 147 (2) PROVISO AND 217 (1) & (2) (c) r/w SECTION 95 M.V. ACT. 1939 : LIMITS TO INSURER'S LIABILITY :-
(2000) 7 SCC 137
NATIONAL INSURANCE CO. LTD. Vs. BEHARILAL

Statutory policy in favour of owner of bus issued under S. 95 (2) of the old Act and continuing to be effective after commencement of the 1988 Act by virtue of proviso to S. 147 thereof. Accident resulting in death/injury to passengers. In such a case liability of insurer, held, not limited to the amount mentioned in S. 95 (2) of the previous Act. The words appearing in Section 95 (2) "with any limited liability and in force".

Section 147 (2) Proviso deals with statutory policy with limited liability and not with contract policy without unlimited liability. It merely indicates the span of the validity of the existing policy issued under the previous Act and does not postulate different maximum liabilities of insurers under statutory policies in respect of accidents occurring during the same period.

●

51. (1) MOTOR VEHICLES ACT, 1988, SECTIONS 147 (5) AND 149 : (2) INSURANCE ACT, SECTION 64 AND CONTRACT ACT, SECTION 2 (D) :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 175
NEW INDIA ASSURANCE CO. LTD. Vs. RULA

Policy of insurance covering motor vehicle issued without receiving premium. Insurer is liable to indemnify third party liability.

Under the contract of insurance, the insurer may waive condition of payment of premium, The provisions have to be understood in the light of the provisions of the Motor Vehicles Act, 1988. The rights of the third party who is not signatory of contract of insurance, his rights are protected by this contract. Third party can get his right indemnified only from the insurer.

●

52. M.P. ACCOMMODATION CONTROL ACT, SECTION 23-J- EMPLOYEE OF A MUNICIPAL CORPORATION- APPLICABILITY OF PROVISIONS TO SUCH EMPLOYEE NOT APPLICABLE :-
2000 (4) M.P.H.T. 151
SUBHASH KUMAR Vs. SHANKARLAL

Municipal Corporation can never be regarded as a statutory corporation. It is a body corporate having its perpetual seal. It is a local Authority and an independent entity. It is

not controlled by Government as Government Company or a statutory corporation owned or controlled by the Government.

●

53. M.P. ACCOMMODATION CONTROL ACT, SECTION 12 (1) (e) & (f) : GENUINE REQUIREMENT OF :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 117
MAYA SHARMA (KU.) Vs. SMT. SHASHI GOYAL

Non-availability of alternative accommodation pleaded evidence on the point can be looked into. Fact proved. Eviction order can be passed. Plaintiff sole judge to decide beneficial enjoyment of his own property. Inconvenience or insecure property cannot be compelled to be used by him by Court. The alternative accommodation was congested. Suit accommodation falling in share of the landlord may be vacated for him. The test regarding bonafide requirement is whether the landlord really requires accommodation or there is any malafides behind it? Family settlement cannot be presumed necessarily for getting eviction decree. Family members may choose to reside separately to avoid family dispute peaceably.

C.P.C., SECTION 100 : SECOND APPEAL :-

Finding as to bonafide requirement as to accommodation not shown to be perverse. High Court cannot interfere in second appeal.

●

54. M.P. ACCOMMODATION CONTROL ACT, SECTIONS 23-A, 23-A (b), 23-E AND 28 : APPOINTMENT OF RENT CONTROLLING AUTHORITY CANNOT BE QUESTIONED IN EVICTION SUIT OR IN REVISION ARISING THEREFROM :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 92
RAMJANI Vs. SMT. SAVITRI BAI

The appointment of Rent Controlling Authority cannot be Challenged in eviction suit or in revision arising therefrom. It should be questioned in separate proceeding making RCA a party thereto. **AIR 19s86 MP 16** relied on and **1987 MPRCJ 365 (SC)** followed.

JUDGMENT : WRITING OF : CIVIL AND CRIMINAL PRACTICE : EVICTION ORDER :

No oral or documentary evidence discussed. Order is liable to be quashed.

●

55. M.P. LAND REVENUE CODE GENERALLY, SECTIONS 17 (2) AND 17 (3) r/w SECTION 17 GENERAL CLAUSES ACT : POWER OF COLLECTOR UNDER ANY ENACTMENT OR RULES FRAMED THEREUNDER :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR
JOHARA DAYAL Vs. STATE OF M.P.

Powers of Collector Under any enactment or ruled framed there under can be exercised by Additional Collector if not specifically restricted.

●

56. M.V. ACT, SECTION 149 (2) (a) (ii) :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 180
ANIL KUMAR Vs. RAJA

Driver of offending vehicle not holding valid licence. Insurer is not liable to indemnify its liability.

●

57. M.V. ACT, 1939, SECTION 103-A AND M.V. ACT. 1988, SECTION 157 : -
2000 (2) JLJ 199 (F.B.)
VIMALA DEVI Vs. DAYARAM

Transfer of vehicle not intimated to the insurer. Insurer is still bound to indemnify third party risk. Transferee's risk not to be indemnified. **1980 ACJ 127 and 1997 ACJ 1258** overruled. **1997 ACJ 1093, 1995 ACJ 292 and MA No. 378/1989** approved. **AIR 1986 AP 62** relied on. **(1996) 1SCC 221, (1998) 6 SCC 599** and **(1999) 3 SCC 754** followed.

Paragraph 9 of the judgment is reproduced :

In view of the aforesaid decision of the Apex Court the controversy has been put to rest. 'The wild inextricable maze' has been cleared by the sublime interpretation. Accordingly we answer the reference holding that the insurance policy remains effective in respect of third party risks but not in respect of the transferees risks even if there has been absence of application/intimation as stipulated under Section 103-A of the Act. Resultantly, the law laid down in the case of **Balwant Singh and Sabir Hussain (1997 A.C.J. 1258 and 1980 A.C.J. 127)** is no more good law and all other decisions of this Court, taking the same view, follow the same path.

●

58. M.V. ACT, 1988, SECTIONS 163-A AND SCH. II :-
2000 (2) JLJ 206 (SC)
JYOTI KAUL Vs. STATE OF M.P.

The deceased was likely to be superannuated after 8 years is not the only factor to select multiplier. Longevity of predecessor of deceased also to be considered beside other factors. Multiplier system is sound in computing compensation. What multiplier should be applied depends upon various circumstances.

●

59. PARTITION ACT. SECTION 4:-
2000 (2) JLJ 185 (SC)
BABULAL Vs. HABIBNOOR KHAN

Basic conditions for application of the Act is stranger transferee must sue for partition and separate possession. Stranger-transferee of undivided share may move execution application for separating his share. It amounts to suing for partition. **(1996) 11 SCC 446** relied on.

Stranger-purchaser neither coming as plaintiff nor as defendant nor even as successor of decree-holder seeking execution of partition decree. Provision does not apply. **AIR 1971 Orissa 127** overruled. **(1996) 11 SCC 446** relied on.

Paragraphs 8, 10 and 12 are reproduced :

The aforesaid contention of Shri Gambhir is well sustained in view of a decision of this Court in case of ***Ghantesher Ghosh Vs. Madan Mohan Gosh, (1996) 11 SCC 446*** : In the said case this Court has taken the view, speaking through one of us (S.B. Majmudar, J) that before section 4 can apply five condition have to be satisfied as under :-

(1) A co-owner having undivided share in the family dwelling house should effect transfer of his undivided interest therein;

(2) The transferee of such undivided interest of the co-owner should be an outsider or stranger to the family;

(3) Such transferee must sue for partition and separate possession of the undivided share transferred to him by the co-owner concerned;

(4) As against such a claim of the stranger transferee, any member of the family having undivided share in the dwelling house should put forward his claim of pre-emption by undertaking to buy out the share of such transferee; and

(5) While accepting such a claim for pre- emption by the existing co-owner of the dwelling-house belonging to the undivided family. The Court should make a valuation of the transferred share belonging to the stranger transferee and make the claimant co-owner pay the value of the share of the transferee so as to enable the claimant co owner to purchase by way of pre-emption the said transferred share of the stranger transferee in the dwelling-house belonging to the undivided family so that the stranger transferee can have no more claim left for partition and separate possession of his share in the dwelling-house and accordingly can be effectively denied entry in any part of such family dwelling-house."

10. Therefore, one of the basic conditions for applicability of Section 4 as laid down by the aforesaid decision and also as expressly mentioned in the Section is that the stranger transferee must sue for partition and separate possession of the undivided share transferred to him by the co-owner concerned. It is, of course, true that in the said decision it was observed that even though the stranger transferee of such undivided interest moves execution application for separating his share by metes and bounds it would be treated to be an application for suing for partition and it is not necessary that a separate suit should be filed by such stranger transferee, All the same, however, before Section 4 of the Act can be pressed in service by any of the other co-owners of the dwelling-house, it has to be shown that the occasion had arisen for him to move under Section 4 of the Act because of the stranger transferee himself moving for partition and separate possession of the share of the other co-owner which he would have purchased. This condition is totally lacking in the present case. To recapitulate, respondent No. 1 decree holder himself, after getting final decree, had moved an application under Section 4 of the Act. Appellant, who was a stranger purchaser, had not filed any application for separating his share from the dwelling house, either at the stage of preliminary decree or final decree or even thereafter in execution proceedings.

12. It has also to be noted that in **Alekha Mantri's case** (supra) the alienee of undivided share of a co-owner in a joint family house was already defendant No. 1 in the suit filed by the plaintiff for partition and separate possession of his undivided share. The question before Orissa High Court was whether alienee from the co-owner who was already defendant No. 1 could be subjected to proceedings under Section 4 of the Partition Act by the plaintiff. The Court had to examine the question whether the person who had brought the suit for partition was himself not a stranger purchaser not but one who was a member of the family and when he is seeking to purchase the share of the vendee from the co-owner alienating his share in favour of a stranger purchaser and when such a vendee was himself a party to the suit as defendant

No. 1, could make such a vendee defendant answerable under Section 4 of the Act or not. In the background of this fact situation, the Court observed in para-13 of the report that Section 4 of the Partition Act would also be applicable where the suit for partition was brought by a member of the undivided family against the stranger transferee, and that it is not necessary that the latter should have filed the suit. He being a defendant could have specifically claimed a share in the residential house. Now, it must be noted that in a partition suit even defendants are as good as plaintiffs and the Court has to ascertain their respective shares in the joint property and subsequently has to separate them by metes by bounds. This decision obviously cannot apply to the facts of the present case where the alienating stranger purchaser of undivided interest of a co-owner in the suit house was neither plaintiff not defendant in the suit. The trial Court in the present case has clearly noted that the transferee Kundanbai or Babu Lal were not parties to the suit. Consequently, it could not be said that the transferee stranger purchaser of coowners interest in the joint property was suing for partition either as a plaintiff or even as a defendant in the suit for partition. If the ratio of the aforesaid decision is held to take the view that a stranger purchaser who does not move for partition of joint property against the remaining co-owners either as a plaintiff or even as a defendant in the partition suit claiming to be as good as the plaintiff nor even as a successor of the decreeholder seeks execution of partition decree, can still be subjected to Section 4 of the Partition Act proceedings, then the said view would directly conflict with the decision of this Court in **Ghantesher Ghosh's case (1996 AIR SCW 3858 : AIR 1997 SC 471)** (supra) and to that extent it must be treated to be overruled.

NOTE :- Please refer to ***1973 MPLJ 650 Ram Dayal Vs. Nanak Lal,*** **1971 MPLJ 239, 1995 MPLJ Note 23 and 1997 (1) JLJ 38.**

●

60. SERVICE LAW : CIVIL SERVICES (EXECUTIVE) CLASSIFICATION, RECRUITMENT AND CONDITIONS OF SERVICE RULES, 1975 (M.P.) : RULE NO. 13 AND CIVIL SERVICES (GENERAL CONDITIONS OF SERVICE) RULES 1963 (M.P.),RULE NO. 12 (a) (ii) :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 86
STATE OF M.P. Vs. RAMKINKAR GUPTA

Employee not passing depatmental examination during probation period. His confirmation on post on passing examination is legal. Representation for seniority of 6 years was rejected with due application of mind. No further reasons need be given.

●

61. TRANSFER OF PROPERTY ACT, SECTION 44 : CLAIM OF SHARE FROM MINOR'S PROPERTY :-
2000 (2) VIDHI BHASVAR 162
PRAKASH CHANDRA Vs. NANDKISHORE

Ancestral property of joint Hindu Family sold for benefit of estate and legal necessity. None of the family members can claim his share. The provisions of Section 44 T.P. Act not applicable.

●

HIGH COURT OF MADHYA PRADESH : JABALPUR - 482 007

E.P.A.B. X. : 620380, 622674 & 621135. Fax No. : 620659.

S.No.	Name of Hon. Judges	Office	Epabx	Residence
1.	Hon. The Chief Justice	323653	301	323851, 321444
2.	Hon. Shri Justice Rajeev Gupta	--	305	600761, 518202
3.	Hon. Shri Justice C.K. Prasad	--	306	314414
4.	Hon. Shri Justice S.C. Pandey	--	308	321764
5.	Hon. Shri Justice V.K. Agrawal	--	304	601316
6.	Hon. Shri Justice Dipak Misra	--	311	600255, 518212
7.	Hon. Shri Justice S.K. Kulshrestha	--	313	606756, 518208
8.	Hon. Miss Justice Usha Shukla	--	307	601153
9.	Hon. Shri Justice S.P. Khare	--	309	608180
10.	Hon. Shri Justice S.S. Saraf	--	340	609635
11.	Hon. Shri Justice Arun Kumar Mishra	--	348	601636

TELEPHONE NUMBERS OF HON. JUDGES AT BENCH INDORE

STD Code No. 0731 EPABX No. 528330, 528555, 527808

Fax No. 527609 Pin Code No. 452 001

S. No.	Name & Addresses	Office	Residence
1.	Hon. The Chief Justice	528005	
2.	Hon. Shri Justice R.D. Vyas Bungalow No. C-7, Radio Colony, Indore.	528180	702526
3.	Hon. Shri Justice J.G. Chitre Bungalow No. 22, Residency Area, Indore.		700748
4.	Hon. Shri Justice Deepak Verma Bungalow No. 5, Pilli Kothi, Indore.		430022
5.	Hon. Shri Justice S.B. Sakarikar Bungalow No. A-2, Pilli Kothi, Indore.		430900 542633
6.	Hon. Shri Justice N.K. Jain Bungalow No. 4, Pilli Kothi, Indore.		432212
7.	Hon. Shri Justice Shambhoo Singh Bungalow No. 21 Residency Area, Indore.		701666 700322
8.	Hon. Shri Justice A.K. Gohil Kailash Kothi, A.B. Road, Indore.		515900
9.	Hon. Shri Justice A.M. Sapre Bungalow No. 3, Pilli Kothi, Indore.		535579

TELEPHONE NUMBERS OF HON. JUDGES AT BENCH GWALIOR

Std Code No. 0751 Epabx No. 230010
Fax No. 230620 Pin Code No. 474 011

S. No.	Name & Addresses	Office	Residence
1.	Hon. The Chief Justice	346900	
2.	Hon. Shri Justice S.P. Shrivastava Bungalow No. 16, Gandhi Road, Gwalior		342892
3.	Hon. Shri Justice Dr. Maithli Sharan Bungalow No. 7, Gandhi Road, Gwalior.		341181
4.	Hon. Shri Justice Fakhruddin Bungalow No. 5, Gandhi Road, Gwalior.		341184
5.	Hon. Shri Justice S.S. Jha Bungalow No. 49, Link Road, Gwalior.		341180
6.	Hon. Shri Justice R.B. Dixit Bungalow No. 9, Gandhi Road, Gwalior.		341182
7.	Hon. Shri Justice N.G. Karambelkar Bungalow No. 15, Gandhi Road, Gwalior.		341183

OFFICERS OF THE REGISTRY

S.No.	Names	Office	Epabx	Residence
1.	Shri S.L. Jain, Registrar General	621259	314	601932
2.	Dr. Shri P.S. Chauhan, Reg. (VIG.)	321185	315	603365
3.	Shri P.V. Namjoshi, Director (J.O.T.I.)	325995	316	624465
4.	Shri Anand Mohan Khare, A.R. (Admn.)	626953	331	325570
5.	Shri Brij Kishore Dube, A.R. (D.E.)	621381	317	323766
6.	Shri B.P. Maheshwari, A.R. (V.L.)	322073	347	321884
7.	Shri C.V. Sirpurkar, A.R. (Judl)	622709	319	331136
8.	Shri Shailendra Shukla, A.R. (VIG.)	322073	332	322784
9.	Shri K.D. Khan, Secy. H.C. Legal Services Comittee		352	601085
10.	Shri S.B. Shrungarure. A.R. (A.W.)	627247	330	625589
11.	Shri A.M. Yeolekar, Ar- Cum-PPS.	323653	333	316464
12.	Shri C.P. Sharma, Dy. Reg. (Judl.)	--	322	
13.	Shri R.P. Pandey, Accounts Officer	--	351	
14.	Shri S.P. Gurao. Budget Officer	--	351	
15.	Shri Arun Aharwal, NIC (Computer)	329030	328	343021
16.	Shri Ajay Pawar, Protocol Officer	626852	329	608875